प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, बनारस-१
The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.
(INDIA)

FOREWORD

(Human life, with its infinite complexities and contradictions, presents a veritable riddle which seems to baffle all solution. If it is sorrow and misery looked at from one side, it is the basis of blissful perfection and eternal progression viewed from another. The polarities of life are facts of experience and cannot be explained away by reasoning. Some attempt to bring them round to a higher synthesis where sorrow and joy lose their known earthly values and appear to assume a Divine meaning. Others however recognise the reality of both and emphasise the brighter side of life seeking to draw out the best that it contains. They do not look upon sorrow as a necessary evil but as a chastening principle intended for discipline and purification.)

The following pages represent such an attempt. The author, in elegant and easily intelligible Sanskrit verses with a luminous rendering into Hindi prose, tries to analyse life as it is found and places his views in three parts before the readers for their appreciation.

PART I deals with the aim of life and the basis on which life with this aim deserves to be founded. This basis is held to be Brahmacharya or Restraint, on which every scheme of education, to be worth the name, must be based.

PART II dwells on the noble and ethical qualities which form the backbone of a progressive life aspiring after spiritual perfection. These qualities include among others integrity

of character, truthfulness, purity of heart, fortitude, mental poise, vigilance and self-introspection. These constitute the Path which leads to the Goal. It is a diffcult path, but it has to be trodden by one in quest of Perfection and Bliss.

PART III describes the highest stage of life, where passions have been conquered and tranquility achieved. This stage marks the fulfilment of life, being the realisation of its unity with the Highest Being Whose infinite love, compassion and power are responsible for the upkeep of creation.

The first emergence of life out of primitive matter, its passage through different grades of matter and its transcendence into Pure Spirit in the end, with the possibility of infinite progression in future, have been beautifully described.

The three stages of the learned author remind one of the well-known three stages of the Mystic Way, viz. Purgation, Illumination and Unitive Life.

The work is throughout inspired by lofty Vedic Idealism and is a beautiful handbook which ought to be in the hands of every earnest youth, at least of every Sanskrit student. Being free from sectarian ideologies and abstruse expressions of a technical nature it is calculated to be intelligible to all readers and helpful to those in pursuit of Truth, Good and Beauty.

Varanasi
11-9-1956

Gopinath Kaviraj
(Mahamahopadhyaya, M. A., D. Litt.)

महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज

M. A., D. Litt.

द्वारा लिखित प्राक्कथन का अनुवाद

प्राक्कथन

अनेकानेक प्रकार के वैषम्यों और विरोधों से समन्वित मानव-जीवन वस्तुतः एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान अत्यन्त कठिन है। यदि एक दृष्टि से यह केवल शोक-रूप और दुःख-रूप है, तो दूसरी दृष्टि से वह आनन्दमय पूर्णता और अनन्त समुत्कर्ष का आधार भी है। जीवन के स्वरूप की ये परस्पर-विरुद्ध दिशाएँ आनुभविक तथ्य हैं और किसी तार्किक व्याख्या द्वारा उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। कुछ लोग उनको एकत्र कर ऐसे उत्कृष्टतर समन्वय की स्थिति में लाने का प्रयत्न करते हैं जिसमे शोक और हर्ष अपने लोक-प्रसिद्ध मूल्यों को छोड़ कर एक दिव्य अभिप्राय को ग्रहण करते हुए प्रतीत होने लगते हैं। दूसरे लोग शोक और हर्ष दोनों की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी, जीवन में जो कुछ अच्छाई है उसी को लेने की दृष्टि से, जीवन के प्रकाशमय पक्ष पर ही बल देते हैं। वे शोक और दुःख को एक अपरिहार्य बुराई के रूप मे न देखकर विनयन और आत्मशुद्धि को लानेवाले एक पवित्रता-धायक तत्त्व के रूप मे ही देखते हैं।

प्रकृत ग्रन्थ में इसी प्रकार का प्रयत्न किया गया है। अपने अभिप्राय को स्पष्ट करनेवाले विशद हिन्दी गद्यानुवाद से युक्त ललित तथा सरल-सुबोध संस्कृत पद्यों द्वारा ग्रन्थकर्ता ने जीवन के वास्तविक स्वरूप का विवेचन करते हुए अपने विचारों को तीन भागों मे बड़े रोचक ढग से पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है।

प्रथम भाग में जीवन के प्रधान लक्ष्य और उसकी ओर प्रवृत्त जीवन के लिए आवश्यक मौलिक आधार का वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्य या संयम ही वह आधार है। वास्तविक शिक्षा की कोई भी योजना उसी पर खड़ी की जा सकती है।

द्वितीय भाग में उन उदात्त और नैतिक गुणों की चर्चा है जिनको आध्यात्मिक पूर्णता के लिए सचेष्ट प्रगतिशील जीवन का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। उनमे अन्य गुणों के साथ-साथ, चरित्र की पवित्रता, सत्य-

भावना, हृदय की स्वच्छता, धैर्य, चित्त की शान्ति, सतत जागरूकता तथा अन्त समीक्षण—ये सम्मिलित हैं। ये ही गुण जीवन के प्रधान लक्ष्य की ओर ले जाने वाले मार्ग को बनाते हैं। वह मार्ग दुर्गम है "दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति", पर आध्यात्मिक पूर्ण विकास और वास्तविक आनन्द की खोज मे प्रवृत्त मनुष्य को उसी मार्ग से यात्रा करनी पडती है।

तृतीय भाग में जीवन की उस उत्कृष्टतम अवस्था का वर्णन है जब कि मनोविकारों को आक्रान्त कर मनुष्य स्थिर शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्था में मनुष्य जीवन की वास्तविक चरितार्थता और कृतकृत्यता का अनुभव करता है। जिसके अनन्त प्रेम, कारुण्य और शक्ति से समस्त विश्व का सचालन हो रहा है उस परमतत्त्व के साथ अपनी एकात्मता के अनुभव में ही जीवन की वास्तविक चरितार्थता निहित है।

इसी भाग में घोर-तम-स्वरूपिणी जडात्मक प्रकृति से चैतन्य का प्रारम्भिक विकास, प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं में से उसकी प्रगति, और अन्त में उत्तरोत्तर अनन्त उत्कर्ष की सभावना से युक्त विशुद्ध चैतन्य के रूप की प्राप्ति का सुन्दर ढग से वर्णन किया गया है। (दे० पृष्ठ ६४–६९)

विद्वान् ग्रथकार द्वारा प्रतिपादित उक्त तीनों अवस्थाओं से रहस्यवादीय जीवन क्रम की विशुद्धीकरण, प्रकाश और अद्वैत भावना इन तीन सुप्रसिद्ध अवस्थाओं का स्मरण हो आता है। स्पष्टत - दोनों म साम्य है।

आदि से अन्त तक उदात्त वैदिक आदर्शों और भावनाओं से भावित यह सुन्दर हस्त पुस्तक प्रत्येक कर्तव्य-परायण नव-युवक के, कम से कम सस्कृत पढने वाले प्रत्येक छात्र के, हाथों में होनी चाहिए। सकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा और दुर्बोध पारिभाषिक शब्दावली से नितरा रहित होने के कारण पुस्तक सब पाठकों के लिए सुबोध होने के साथ साथ 'सत्य शिव सुन्दरम्' के आदर्श का अनुसरण करने वालों के लिए सहायक और उपयोगी सिद्ध होगा।

वाराणसी, ११.२.५६ } गोपीनाथ कविराज

विशेष सम्मतियाँ



डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट०

अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृतभाषा-विभाग,

प्रयाग विश्वविद्यालय।

डा० मंगलदेव शास्त्री का नया ग्रन्थ 'अमृतमन्थन' देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। भारत के दर्शन-पंडित अधिकांश में निराशावादी हैं, यद्यपि दर्शन का मूलतत्त्व आशा और श्रद्धा है। शास्त्रीजी ने अपने पूर्व-प्रकाशित रश्मिमाला-नामक ग्रन्थ में अपनी आशावादी दृष्टि स्पष्ट की थी और उत्साही, क्रियाशील होने की प्रेरणा दी थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में जीवन का वही दिव्यपक्ष और भी स्पष्ट हो गया है। भारतीय संस्कृति का दिव्य स्वरूप जो छिपा हुआ था अब वह निखर कर प्रकाश में आया है। इस दिव्य रूप का दर्शन करने में ग्रन्थकार को स्वयं प्रेरणा वर्तमान युग के भारत के दिव्य रत्न तीन महापुरुषों से मिली है। लेखक का परिश्रम श्लाघनीय है और हमें विश्वास है कि भारतीय समाज इस ग्रन्थरत्न का समुचित आदर करेगा और इससे लाभ उठावेगा।

प्रकाशक ने भी बाह्य रूप को सर्वथा दिव्य बनाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। उनका परिश्रम भी अभिनन्दनीय है।

प्रोफेसर धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, एम० ए०

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मेरठ कालेज, तथा संयोजक,

संस्कृत बोर्ड, आगरा विश्वविद्यालय।

मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि 'अमृतमन्थन' के पाठ से मुझे स्वयं स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त हुई है। आधुनिक युग के उन गिने चुने संस्कृत लेखकों में जिन्होंने नवीन भावों की अभिव्यञ्जना के लिये संस्कृत की व्यंजन क्षमता का विकास किया है, डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री का बहुत ही आदरणीय स्थान है। उन्होंने प्रबन्धप्रकाश के दोनों भागों द्वारा एक ऐसे उत्कृष्ट संस्कृत गद्य का नमूना प्रस्तुत किया है जिसमें प्राचीन लेख-पद्धति को अपनाते हुये नवीन भावों का प्रकाश है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'अमृतमन्थन' में पद्यों द्वारा जीवन-यात्रा के लिये उदात्त भावनाओं का पाथेय प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक युग में स्फूर्ति देने वाले अमृत के घूंट पीते हुये अमरवाणी संस्कृत का अभ्यास करने के लिये सरस्वती के एक वरद पुत्र ने हमारे लिये एक नवीन सामग्री प्रस्तुत कर दी है।

ग्रन्थ-समर्पण

वन्दनीय गुरुजनों

के

चरणों में

प्रस्तावना

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य

तत्त्वदर्शी मनीषियों की दृष्टि में मनुष्य-जीवन सदा से एक गम्भीर समस्या का विषय रहा है। वैदिक वाङ्मय के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण (४।५।२।३) में एक प्रसङ्ग में ठीक ही कहा है :—

को हि मनुष्यस्य वेद ?

अर्थात्, मानव की, मानव-जीवन की, समस्या का समाधान बड़ा कठिन है।

ऐतरेय आरण्यक (२।३।३) में इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है :—

स एष पुरुषः समुद्रः ।

अर्थात्, मनुष्य को एक प्रकार से 'समुद्र' ही समझना चाहिए। संसार को भी कई दृष्टियों से 'समुद्र' कहा जाता रहा है। एक प्रकार से जीवन और संसार दोनों समानार्थक हैं। क्रमशः व्यष्टिगत और समष्टिगत दृष्टि-भेद से दोनों एक ही बात की ओर संकेत करते हैं—

दोनों में अनन्त गाम्भीर्य है;
दोनों में विष और अमृत का स्थान है।

साथ ही, यह हमारे हाथ में है कि उनमें से हम विष का उपभोग करें, या अमृत रस का पान करें।

जीवन के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरुद्ध दृष्टियों का वर्णन हम अन्यत्र[1] विस्तार से कर चुके हैं।

एक दृष्टि के अनुसार संसार और जीवन दुःखमय हैं। अतएव सर्वथा हेय हैं। जीवन बन्ध या कारागार के समान है। इसीलिए जीवन और संसार मिथ्या और असार हैं। उनसे छुटकारा (या मोक्ष) पाना ही हमारा परम ध्येय होना चाहिए।

---

१. देखिए 'रश्मिमाला' पृ० ९-२९ तथा भूमिका पृ० १६, 'भारतीयसंस्कृति का विकास' प्रथमखण्ड, वैदिक धारा, पृ० १०-११, ७७-८५।

जीवन में अवसाद अनुत्साह और निराशा को लाने वाले प्रायः ऐसे ही विचारों से हमारा प्राचीन पुराणों आदि का साहित्य भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, देखिए—

मृत्युलोके महादुःखं कथयामि ततः शृणु।
....
संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा।
सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने॥
इन्द्रजालमयं दृष्ट्वा संसारं...............
अभ्रमध्ये च पश्यन्ति चञ्चलां विद्युतां गतिम्।
क्षणं दृष्ट्वा च नश्यन्ति तथा संसारिणो जनाः॥
जले च बुद्बुदो यद्वत्तद्वत्संसारिणो जनाः।...

अर्थात्, मृत्युलोक में महादुःख है। संसार एक स्वप्नमात्र है। प्राण, धनादि अस्थायी हैं। उसमें सुख नाममात्र को नहीं है; दुःख प्रतिदिन रहता है। संसार इन्द्रजालमय या धोखे की चीज़ है। बादलों में चञ्चल विद्युत् अथवा पानी में बुलबुले के समान ही मनुष्यों का जीवन है। इत्यादि।

दूसरी दृष्टि के अनुसार, जीवन प्रेम और करुणा के धाम भगवान् का परमोत्कृष्ट प्रसाद है। वह हमारे उत्तरोत्तर विकास का, उत्कृष्ट प्रगति का, एकमात्र साधन है। उसका परम लक्ष्य आनन्द, निःश्रेयस या अमृतत्व है।

इसी दूसरी दृष्टि को हम जीवन का दिव्यपक्ष कह सकते हैं। वेदादि शास्त्रों में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) (अर्थात्, भगवन्! हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए), 'जीवा ज्योतिरशीमहि' (ऋग्वेद ७।३२।२६) (अर्थात्, हम जीवन में विशुद्ध प्रकाश को प्राप्त करें),

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजु० २०।२१)

(अर्थात्, अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करें) इत्यादि वचन जीवन के इसी दिव्यपक्ष की व्याख्या करते हैं।

जीवन के इसी दिव्य-पक्ष के संदेश को दूसरों तक पहुँचाने के लिए, सबको भगवान् के सर्वोत्कृष्ट प्रसाद रूप जीवन के मन्थन से समुद्भूत अमृत का दिव्य-रस-पान कराने के लिए, इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है।

दूसरे शब्दों में, जीवन में उदात्त भावनाओं के दिव्य संदेश की नवीन स्फूर्त्ति, नवीन जागरण, नवाभ्युत्थान का लाना ही इस रचना का मुख्य उद्देश्य है।

विषय-निर्देश

मनुष्य-जीवन के उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाओं की दृष्टि से पुस्तक लक्ष्यानुसन्धान, जीवन-पाथेय तथा प्रज्ञाप्रसाद नामक तीन मुख्य भागों (=प्रस्तव अथवा प्रवाह) में विभक्त की गयी है।

प्रथम भाग (=लक्ष्यानुसंधान) में मनुष्य-जीवन के लक्ष्य पर विचार किया गया है। जीवन की महत्त्वपूर्ण यात्रा पर चलने से प्रथम जीवन-लक्ष्य का अनुसंधान और उसकी प्राप्तिके ब्रह्मचर्य जैसे मुख्य साधनों का प्रतिपादन ही इस भाग का प्रधान विषय है।

'ब्रह्मचर्य-संदेश' इस भाग की मुख्य रचना है; और वह घटना-मूलक है। उसके पद्य मूलतः ईस्वी सन् १९०९ में लिखे गये थे। उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार के अनन्तर पवित्र गुरुकुलीय वातावरण में रहते हुए क्रमशः जीवन में उत्तरदायित्व की बुद्धि के विकसित होने पर, देश की दुर्दशा से चिन्तित अवस्था में एक महापुरुष के चित्र के संदर्शन से जो दिव्य-संदेश मिला था, उसीके आधार पर उक्त पद्यों की रचना हुई थी। इसीलिए उक्त रचना को 'चित्र-दर्शन' भी कहा जा सकता है।

प्रथम भाग की अन्य रचनाओं में ब्रह्मचर्य के आदर्श से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले 'व्रत का जीवन', 'ब्रह्मचारी के लिए शिक्षा का आदर्श' जैसे अत्यन्त आवश्यक प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला गया है।

दूसरे शब्दों में, भारतीय राष्ट्र की शिक्षा-विषयक आधुनिक दुरवस्था के मौलिक परिष्कार की महती समस्या का बहुत कुछ समाधान ही प्रथम भाग का विषय है।

द्वितीय भाग (=जीवन-पाथेय) का सम्बन्ध विशेषतः उन विशिष्ट आध्यात्मिक गुणों और संपत्ति के वर्णन से है जिनकी अनिवार्यरूप से आवश्यकता उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास और उत्कृष्ट प्रगति के महान् आदर्श को अपने सामने रखकर जीवन-यात्रा करने वालों को हुआ करती है। ऐसी जीवन-यात्रा के लिए ही शास्त्रों में 'क्षुर की तीक्ष्ण धारा के समान दुर्गम पथ' कहा गया है; जैसे—

> उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
> दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
>
> (कठोपनिषद् १।३।१४)

अर्थात्, उठो, जागो और महान् पुरुषों से जीवन-यात्रा के लक्ष्य और कर्तव्यों को समझो। मनीषी लोग इसको क्षुर की कठिन तीक्ष्ण धारा के समान दुर्गम मार्ग कहते हैं।

जीवन में अवसाद अनुत्साह और निराशा को लाने वाले प्रायः ऐसे ही विच से हमारा प्राचीन पुराणों आदि का साहित्य भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, देखिए—

मृत्युलोके महादुःखं कथयामि ततः शृणु।
....
संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा।
सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने॥
इन्द्रजालमयं दृष्ट्वा संसारं..............
अभ्रमध्ये च पश्यन्ति चञ्चलां विद्युतां गतिम्।
क्षणं दृष्ट्वा च नश्यन्ति तथा संसारिणो जनाः॥
जले च बुद्बुदो यद्वत्तद्वत्संसारिणो जनाः।...

अर्थात्, मृत्युलोक में महादुःख है। संसार एक स्वप्नमात्र है। प्राण, धनादि अस्थायी हैं। उसमें सुख नाममात्र को नहीं है; दुःख प्रतिदिन रहता है। संसार इन्द्रजालमय या धोखे की चीज है। बादलों में चपल विद्युत् अथवा पानी में बुल्बुले के समान ही मनुष्यों का जीवन है। इत्यादि।

दूसरी दृष्टि के अनुसार, जीवन प्रेम और करुणा के धाम भगवान् का परमोत्कृष्ट प्रसाद है। वह हमारे उत्तरोत्तर विकास का, उत्कृष्ट प्रगति का, एकमात्र साधन है। उसका परम लक्ष्य आनन्त्य, निःश्रेयस या अमृतत्व है।

इसी दूसरी दृष्टि को हम जीवन का दिव्यपक्ष कह सकते हैं। वेदादि शास्त्रों में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) (अर्थात्, भगवन्! हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए), 'जीवा ज्योतिरशीमहि' (ऋग्वेद ७।३२।२६) (अर्थात्, हम जीवन में विशुद्ध प्रकाश को प्राप्त करें),

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजु० २०।२१)

(अर्थात्, अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करें) इत्यादि वचन जीवन के इसी दिव्यपक्ष की व्याख्या करते हैं।

जीवन के इसी दिव्य-पक्ष के सन्देश को दूसरों तक पहुँचाने के लिए, सबको भगवान् के सर्वोत्कृष्ट प्रसाद रूप जीवन के मन्थन से समुद्भूत अमृत का दिव्य-रस-पान कराने के लिए, इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है।

दूसरे शब्दों में, जीवन में उदात्त भावनाओं के दिव्य संदेश की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागरण, नवाभ्युत्थान का लाना ही इस रचना का मुख्य उद्देश्य है।

विषय-निर्देश

मनुष्य-जीवन के उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाओं की दृष्टि से पुस्तक लक्ष्यानुसन्धान, जीवन-पाथेय तथा प्रज्ञाप्रसाद नामक तीन मुख्य भागों (= प्रस्तव अथवा प्रवाह) में विभक्त की गयी है।

प्रथम भाग (=लक्ष्यानुसंधान) में मनुष्य जीवन के लक्ष्य पर विचार किया गया है। जीवन की महत्त्वपूर्ण यात्रा पर चलने से प्रथम जीवन-लक्ष्य का अनुसंधान और उसकी प्राप्ति के ब्रह्मचर्य जैसे मुख्य साधनों का प्रतिपादन ही इस भाग का प्रधान विषय है।

'ब्रह्मचर्य-संदेश' इस भाग की मुख्य रचना है; और वह घटना-मूलक है। उसके पद्य मूलतः ईस्वी सन् १९०९ में लिखे गये थे। उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार के अनन्तर पवित्र गुरुकुलीय वातावरण में रहते हुए क्रमशः जीवन में उत्तरदायित्व की बुद्धि के विकसित होने पर, देश की दुर्दशा से चिन्तित अवस्था में एक महापुरुष के चित्र के संदर्शन से जो दिव्य-संदेश मिला था, उसीके आधार पर उक्त पद्यों की रचना हुई थी। इसीलिए उक्त रचना को 'चित्र-दर्शन' भी कहा जा सकता है।

प्रथम भाग की अन्य रचनाओं में ब्रह्मचर्य के आदर्श से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले 'ब्रह्म का जीवन', 'ब्रह्मचारी के लिए शिक्षा का आदर्श' जैसे अत्यन्त आवश्यक प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला गया है।

दूसरे शब्दों में, भारतीय राष्ट्र की शिक्षा-विषयक आधुनिक दुरवस्था के मौलिक परिष्कार की महती समस्या का बहुत कुछ समाधान ही प्रथम भाग का विषय है।

द्वितीय भाग (=जीवन-पाथेय) का सम्बन्ध विशेषतः उन विशिष्ट आध्यात्मिक गुणों और संपत्ति के वर्णन से है जिनकी अनिवार्यरूप से आवश्यकता उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास और उत्कृष्ट प्रगति के महान् आदर्श को अपने सामने रखकर जीवन-यात्रा करने वालों को हुआ करती है। ऐसी जीवन-यात्रा के लिए ही शास्त्रों में 'क्षुर की तीक्ष्ण धारा के समान दुर्गम पथ' कहा गया है; जैसे—

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठोपनिषद् १।३।१४)

अर्थात्, उठो, जागो और महान् पुरुषों से जीवन-यात्रा के लक्ष्य और कर्तव्यों को समझो। मनीषी लोग इसको क्षुर की कठिन तीक्ष्ण धारा के समान दुर्गम मार्ग कहते हैं।

इस दुर्गम पथ पर सफल यात्रा के लिए उदात्त चरित्र, प्रशान्त मन, भाव-संशुद्धि, प्रमोद तथा धैर्य आदि की परम आवश्यकता होती है। तभी तो श्रुति ने कहा है :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठोपनिषद् १।२।२४)

अर्थात्, दुश्चरित्र, असंयत, अस्थिर-बुद्धि और अशान्त मन वाला व्यक्ति सत्य को नहीं पा सकता।

ऐसे ही विचारों के आधार पर इस जीवन-पाथेय-नामक *द्वितीय भाग में आध्यात्मिक जीवन-विकास के लिए परमोपयोगी आदर्श-चिन्तन, चारित्र्य-संपत्ति, भाव-संशुद्धि, सत्याचरण, इन्द्रिय-संयम, धैर्य, सत्संग-माहात्म्य* जैसे विषयों का *प्रतिपादन किया गया है।*

तृतीय भाग (=प्रज्ञा-प्रसाद) में आध्यात्मिक विकास की उस उत्कृष्टतर अवस्था का वर्णन है जब कि फलोन्मुख जीवन-यात्रा का यात्री, विषयासक्ति और क्षुद्रवासनाओं से ऊपर उठ कर, अपने चरम लक्ष्य के प्रकाश में, समस्त विश्व का संचालन करने वाली, उसमें ओत-प्रोत (तु० "स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु", यजु० ३२।८) और उससे बाहर भी अवस्थित, मौलिक महान् सत्ता के साथ अपने व्यक्तित्व के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखता हुआ, अपने जीवन की वास्तविक चरितार्थता और कृतकृत्यता का अनुभव करता है। उस उत्कृष्ट अवस्था का मूल्यांकन किसी भी भौतिक संपत्ति आदि से नहीं किया जा सकता। वह तो स्वयं ही अपना मूल्य है। यही 'प्रज्ञा-प्रसाद' की अवस्था है। इसी को वास्तव में 'सौम्या मनःस्थितिः' कह सकते हैं।

उक्त अवस्था का ही विशद वर्णन इस भाग में मूलतत्त्वानुभूति, आत्म-तत्त्व-विवेचन, ब्रह्म-भावन, तत्त्वसाक्षात्कार इन अवान्तर-खण्डों में अनेक रचनाओं द्वारा किया गया है।

उक्त तीनों भागों के अधिदेवता

वर्तमान भारत के नवजागरण में, ज्ञान कर्म और उपासना के भेद से काण्डत्रयात्मक मानव-जीवन को प्रकाश और प्रेरणा के देने में, निर्विवाद रूप से प्रमुख स्थान स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी और परमहंस रामकृष्ण इन तीन महापुरुषों का है। उनके अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र के अनुसार ग्रन्थ के तीनों भागों को हम क्रमशः, अधिदेवता के रूप में, उक्त महापुरुषों की सेवा में विनीत भाव से समर्पित करते हैं।

प्रक्रिया और शैली

पुस्तक की रचना शैली के विषय में हमें विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। हमारा सदा से यह सिद्धान्त रहा है कि किसी भी रचना के लिए उसमें प्रसाद गुण का होना अत्यावश्यक है। वही मिष्टान्न सर्वोत्तम समझा जाता है जिसके माधुर्य का रसास्वादन मुख में रखते ही होने लगता है। इसी तरह उसी रचना का विशेष महत्व होता है जिसको सुनने के साथ ही अर्थावबोध होता जाता है और विचार की प्रगति में किञ्चिन्मात्र भी बाधा नहीं आती। भगवद्गीता, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों की लोकप्रियता और महत्ता का मुख्य रहस्य उनकी सरल, सुबोध और हृदयाकर्षक शैली में निहित है।

दूसरे, हमारा विश्वास है कि संस्कृतभाषा के प्रति जनता में अनुराग और आकर्षण उत्पन्न करने के लिए आधुनिक संस्कृत में उक्त प्रसाद-गुण-बहुल स्वाभाविक शैली को ही अधिकाधिक अपनाना चाहिए।

उपर्युक्त कारणों से ही प्रकृत ग्रन्थ की रचना शैली आरम्भ से अन्त तक स्वाभाविक प्रसाद गुण से विशिष्ट है। पढ़नेवाला अधिकारी व्यक्ति उसको पढ़ते-पढ़ते तन्मय हुए बिना नहीं रह सकता। पाठक-वृन्द इसी प्रकार ग्रन्थ की रचनाओं का रसास्वादन कर सकें, यही ग्रन्थकार का प्रथम ध्येय है।

अमृतमन्थन की रचनाओं की दूसरी विशेषता उनकी अपारिभाषिकता है। यथासंभव इसी लक्ष्य को सामने रखा गया है कि विभिन्न विषयों का प्रतिपादन ऐसे शब्दों में और ऐसे ढंग से किया जाय जिससे उनके अन्तर्हृदय को, वास्तविक अभिप्राय को, किसी भी सम्प्रदाय, धर्म, संस्कृति या देश से सम्बन्ध रखनेवाला मनुष्य सरलता से हृदयंगम कर सके। अन्न की भूख की तरह विचारों की भूख भी मनुष्य मात्र में स्वभावत पायी जाती है। यह सर्वथा साध्य है कि उत्तम भोज्य पदार्थों के समान उत्कृष्ट विचारों को भी ऐसे रूप में रखा जावे कि वे सबको प्रिय हों। इसीलिए ऐसे विषयों के प्रतिपादन में जिनका सम्बन्ध मानव मात्र की समस्याओं से है अपारिभाषिकता का होना अत्यावश्यक है। विश्वविख्यात उपनिषदों की हृदय ग्राहिणी प्रतिपादनशैली प्राय इसी प्रकार की है।

हमें पूर्ण आशा है कि किसी भी सम्प्रदाय, संस्कृति अथवा धर्म से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति 'अमृत मन्थन' के भावों का रसास्वादन कर सकेगा। साथ ही हम यह भी समझते हैं कि संस्कृतभाषा का विशेष ज्ञान न रखने वाले लोग भी 'अमृत-मन्थन' को सरलता से समझ सकेंगे और उसके द्वारा अपने संस्कृत ज्ञान को बढ़ा सकेंगे।

पुस्तक की पृष्ठभूमि

जीवन और जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में ग्रन्थकार के अपने कुछ ऐसे विचार हैं जिनकी पृष्ठ-भूमि को समझे बिना प्रकृत ग्रन्थ की विशेषता को हृदयंगम करना कठिन है। वास्तव में ग्रन्थ की जो कुछ विशेषता है उसका बहुत बड़ा कारण उक्त पृष्ठ-भूमि में ही निहित है। उन विचारों का दिग्दर्शन हम निम्नरूप में कर सकते हैं:—

(१) जीवन में आशावाद: दूसरे शब्दों में,

> निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते।
> मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च।
> चारिताथ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम्॥
> आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः।

(रश्मिमाला १।१–२)

अर्थात्, मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित है। आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है।

(२) प्रेम और करुणा के धाम भगवान् की सृष्टि में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती। उसको हमें अपने उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए सीढ़ी ही समझना चाहिए। इसीलिए

> उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
> दुःखानां स्वागतं कुर्वंस्तत्त्वज्ञो नावसीदति॥

(रश्मिमाला ९।९)

अर्थात्, तत्त्वज्ञानी मनुष्य जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता।

(३) उत्तरोत्तर समुत्कर्ष की प्राप्ति ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। क्योंकि,

> उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।

(रश्मिमाला २।७)

हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नति शील और वास्तव में सदा रहने वाला है।

(४) मूल तत्त्व के विषय में, परम सत्य के अन्वेषण में, असाम्प्रदायिक भावना। क्योंकि,

> भाषासीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथंचन।
> स्वयम्भु, वस्तुतो नाम्ना रहितं तद्धि वर्तते॥

(रश्मिमाला ६०।२)

अर्थात्, मूलतत्त्व भाषा की सीमा को अतिक्रमण करके रहता है, अर्थात् भाषा द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन कठिन है। वह स्वयम्भू है, स्वयं सिद्ध है। वास्तव में इसका कोई अपना नाम नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विचारधारा को, उसकी विशेषता को, यथावत् हृदयंगम करने के लिए उक्त पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है।

इसीलिए ग्रन्थ के परिशिष्ट-भाग में इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने का हमने यत्न किया है।

उपसंहार

पूर्व प्रकाशित अपनी पुस्तक रश्मिमाला (अथवा 'जीवनसंदेश-गीताञ्जलि') की रचनाओं के समान अमृतमन्थन की रचनायें भी समय समय पर आत्म-संतोष के लिए ही लिखी जाती रही हैं। प्रात. सायं के भ्रमण में, रेल आदि की यात्रा में, और कभी-कभी साधारण से अवसर पर ही, उत्पन्न समस्याओं या विचार-तरंगों से ही इनके लिखने में प्रेरणा प्राप्त होती रही है। इनको क्यों प्रकाशित किया जा रहा है, इसका उत्तर हम ऊपर दे चुके हैं।

'रश्मिमाला' के समान ही यह 'अमृतमन्थन' भी श्रद्धेय राजर्षि श्री पुरुषोत्तम-दास टंडनजी की प्रेरणा और प्रस्ताव के कारण 'भारतीय संस्कृति-सम्मेलन' के तत्त्वावधान में प्रकाशित किया जा रहा है। निस्सन्देह पुस्तक के लिए यह विशेष गौरव की बात है।

बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि पुस्तक का प्रकाशन वाराणसी की सुप्रतिष्ठित विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला में हो रहा है। इसके लिए हम ग्रन्थमाला के उत्साही और विद्याप्रेमी अध्यक्ष श्रीजयकृष्णदास गुप्तजी के विशेष कृतज्ञ हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्होंने पुस्तक को शुद्ध और सुन्दर मुद्रित कराने में यथाशक्य प्रयत्न किया है।

अन्त में हमारी यही हार्दिक कामना है कि

भद्रा भवतु नो वाणी तेभ्यो ये तामधीयते।
भद्रा उत प्रशस्तयो जागृयाम पुरोहिताः ॥ १ ॥

यह वाणी पढ़ने वालों के लिए कल्याणकारिणी हो। इस ग्रन्थ में दी हुई विभिन्न विषयों की प्रशस्तियाँ (= वर्णन) हृदयगम और कल्याण करने वाली हों। राष्ट्र-निर्माण में मार्गप्रदर्शन करने वाले हम लोग अपने कर्तव्य पालन में सदा सावधान और तत्पर रहें।

भद्राः सन्तु प्रशस्तयो भद्रा वाचो वचोविदः।
जागृयाम पुरोहिताः ॥ २ ॥

ग्रन्थकार की प्रशस्तियाँ सुन्दर और सुखद सिद्ध हों। शब्दावली भी सब के हित-साधन में समर्थ हो। जनता का मार्ग-प्रदर्शन करने वाले हम ग्रन्थकार लोग अपने कर्तव्य-पालन में सजग रहें।

तमसस्परि पश्यन्तो नित्यं स्वर्यमुत्तरम्।
अशुरीमहि तज्ज्योतिरुत्तमं यदनामयम्॥ २॥

उत्तरोत्तर प्रकाश को आदर्शरूप में देखते हुए हम लोग, अज्ञानान्धकार की वर्तमान अवस्था से क्रमशः ऊपर उठकर, उस उत्तम प्रकाश को प्राप्त हों जो सब प्रकार के अन्धकार से, अज्ञान से, और अपूर्णता से रहित है।।।

वैदिक स्वाध्याय मन्दिर,
ज्योतिराश्रम, वाराणसी छावनी
ज्येष्ठ कृष्ण ५, २०१२
(२९।५।१९५६)

मङ्गलदेव शास्त्री

विषय-सूची

अमृत-मन्थनम्

प्रथम प्रवाह

लक्ष्यानुसन्धान

द्वितीय प्रवाह

जीवन-पाथेय

चारित्र्य-संपत्तिः = चारित्र्य-संपत्ति

तृतीय प्रवाह

प्रज्ञा-प्रसाद

तत्त्वसाक्षात्कारः = परम-तत्त्व का साक्षात्कार

परिशिष्ट-भाग

शुद्धाशुद्ध-सूची

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७७	१०	द्वितीय	तृतीय
८४	२	तप्तो	तप्तः
१०९	१२	श्लोक की संख्या ॥ ११ ॥ चाहिए	



मातृभूमेरभिनन्दनम्

सा नो माता भारती भूर्विभासताम्

येय देवी मधुना तर्पयन्ती
तिस्रो भूमीरुद्धृता शोकपस्थात् ।
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
मेधां श्रेष्ठां सा सदास्मासु दध्यात् ॥ १ ॥

सर्वे वेदा उपनिषदश्च सर्वा
धर्मग्रन्थाश्चापरे निधयो यस्याः ।
मृत्योर्मर्त्यानमृतं ये दिशन्ति वै
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥ २ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्ते
उत्तिष्ठन्ते ते भूय उत्तिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे धर्म एजते
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥ ३ ॥

यां रक्षन्त्यनिशं प्रतिबुध्यमाना
देवा ऋषयो मुनयो ह्यप्रमादम् ।
राजर्षयोऽपि ह्यनघाः साधुवर्याः
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥ ४ ॥

महान्तोऽस्यां महिमानो निविष्टा
देवा गातुं यां क्षमन्ते न सद्यः ।
सा नो वन्द्या भ्राजसा भ्राजमाना
माता भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् ॥ ५ ॥

अभिनन्दनमिदं पुण्यं दिव्यभावैः समर्हितम् ।
मातृभूमेः पठन्नित्यमात्मकल्याणमश्नुते ॥ ६ ॥

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से

मातृभूमि का अभिनन्दन

विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

१. द्युलोक से मानो अवतीर्ण,
तीनों लोकों को दिव्य माधुर्य से आपूर्ण करनेवाली,
अभिलषित कामनाओं को देनेवाली
तथा दुःख दारिद्रय (अलक्ष्मी) को हटानेवाली,
देवीस्वरूपिणी भारत–माता
सद्विचारों की साधना में हमारी सहायक हो !

२. मनुष्यों को मृत्यु से हटाकर
अमृतत्व की प्राप्ति का उपदेश देनेवाले
समस्त वेद, उपनिषद् तथा अन्य (बौद्ध, जैन आदि) धर्म-ग्रन्थ
जिस के निधि स्वरूप हैं,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

३. जिसका अपकर्ष संसार में
धर्माचरण के अपकर्ष का कारण होता है,
जिसके उत्कर्ष में धर्माचरण का उत्कर्ष निहित है,
जिससे धर्म को प्रेरणा प्राप्त होती है,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

४. देवगण, ऋषि, मुनि, राजर्षि
और पवित्रात्मा सन्त-महात्मागण
सावधानता तथा तत्परता से
जिसके कल्याणमय स्वरूप की निरन्तर रक्षा करते आये हैं,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो।

५. जिसकी महिमा महान् है,
देवगण भी जिसके स्वरूप का गान नहीं कर पाते,
समुज्ज्वल तेज से देदीप्यमान
वह सर्व-लोक-वन्दनीय हमारी मातृभूमि
विरोधी शत्रुओं को शमन (निराकरण) करनेवाली हो!

माहात्म्य

६. मातृभूमि भारत के दिव्य भावों से युक्त इस पवित्र अभिनन्दन का नित्य पाठ करने वाला मनुष्य आत्मकल्याण को प्राप्त होगा।



भारत्याः खलु सुप्रभातमभितः संवर्धतां भारतम्!

भारत्या भुवनेऽखिले पृथु यशस्तन्वद् बुधानां मनः-
स्वाशायल्लरिकामुमानि विकचीकुर्वत्तमो वारयत् ।
नूत्नज्ञानरवेः प्रकाशकिरणैर्विस्तीर्यमाणं पुरो
हृद्यं तत्खलु सुप्रभातमभितः संवर्धतां भारतम् ॥

(काव्यपद्धतिः)

सुप्रभातं विजयतां धियो यत्पुष्टिवर्धनम् ।
पथः सत्यस्य सातये ॥

(मन्त्रपद्धतिः)

देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पर्धिरे । ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त । ते हाविजयमानाः प्रजापतिं पितरमुपतस्थुरस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति । प्रजापतिर्वै ज्योतिर्देवेभ्यः प्रददा एतद्वो विजित्यै भविष्यति, तमोऽसुरेभ्यः प्रददा एतद्वो विजित्यै भविष्यतीति । तस्माद्देवा ज्योतिषा विजयन्ते, असुरास्तमसा । तस्मादाहुर्ज्योतिर्जुषो वै देवाः, असुरास्तमोजुषः । अथ प्रभात एव प्रथमं देवा ज्योतिरपश्यन् । प्रभात एवोपबुधोऽग्निस्तायते । अग्निमुखा वै देवाः । तस्मात्प्रभातमेव ज्योतिषां ज्योतिः । सुप्रभातमु ह तस्य भवति, तमसः पारं याति य एवं विद्वान् ज्योतिर्जुषो देवान्वेद । ज्योतिर्वै सत्यम् । ज्योतिरमृतम् ॥

(ब्राह्मणपद्धतिः)

देववाणी का नवजागरण

भारत में सर्वत्र भारती
(देववाणी) का सुप्रभात होवे !

समस्त संसार में भारती के विपुल यश को फैलाता हुआ, विद्वानों के हृदयों में आशा वल्ली के कुसुमों को विकसित करता हुआ, अज्ञानान्धकार को हटाता हुआ, नवीन ज्ञान के सूर्य के प्रकाश की किरणों के साथ सामने फैलता हुआ, सुन्दर सुप्रभात (= नवजागरण) भारत में सर्वत्र वृद्धि को प्राप्त हो !

सच्चे मार्ग की प्राप्ति के लिए,
बुद्धि को पुष्टि-प्रदान करने वाले,
सुप्रभात (नवजागरण) की जय हो !

प्रजापति से उत्पन्न देवता और असुर दोनों परस्पर में स्पर्धा करने लगे। दण्डों और धनुषों की सहायता से उनमें से किसी की विजय नहीं हुई। तब यह सोचते हुए कि प्रजापति हमारा पक्ष लेगा, दोनों पक्ष प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने 'इससे तुम्हारी विजय होगी' यह कहते हुए ज्योति अर्थात् प्रकाश देवताओं को दिया और अन्धकार असुरों को दिया। इसी से प्रकाश में देवताओं का और अन्धकार में असुरों का उत्कर्ष होता है। इसीलिए कहते हैं कि देवता प्रकाश से और असुर अन्धकार से प्रेम करते हैं। तब देवताओं ने प्रकाश को प्रथमतः प्रभात के समय ही देखा। उषःकाल में जागनेवाली अग्नि का विस्तार प्रभात में ही होता है। अग्नि ही देवताओं का मुख है। इसलिए प्रभात ही ज्योतियों की ज्योति है। जो विद्वान् यह जानता है कि देवता प्रकाश से ही प्रेम करते हैं, उसी का सुप्रभात (= नवाभ्युत्थान) होता है, वही अज्ञानान्धकार को पार कर जाता है। प्रकाश ही सत्य है। प्रकाश ही अमृत है।

सन्तो मधुव्रताः सान्द्रं

पीत्वा शास्त्ररसामृतम् ।

लोकोत्तरं तथाद्यप्य-

मानन्दमुपभुञ्जते ॥ १ ॥

सत्पुरुषों का स्वभाव मधु-पान-रसिक भ्रमर के समान होता है । वे शास्त्रों के रस रूपी अमृत को तन्मयता के साथ पीकर अक्षय्य लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं ।





महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

अमृतस्य निषेकेण मुमूर्षुं समजीवयत्।
मन्ये यो भारत भूमौ महर्षिं तं नतोऽस्म्यहम्॥

प्रथमः परिस्रवः

लक्ष्यानुसन्धानम्

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

(केनोपनिषद् २।५)

मा प्र गाम पथो वयम्।

(ऋग्० १०।५७।१)



प्रथम प्रवाह

लक्ष्यानुसन्धान

इसी जन्म में यदि जीवन के लक्ष्य को जान लिया, तो ठीक है। यदि नहीं जाना, तो बड़ी हानि है।

(केन उपनिषद् २।५)

हम जीवन में पथ-भ्रष्ट न हों।

(ऋग्० १०।५७।१)



(१)

ब्रह्मचर्य-संदेश:

ब्रह्मचर्य का संदेश

कदाचिदेकान्तगतो विचार-
परम्परान्दोलितमानसोऽहम् ।
हीनां दशां भारतमातृभूमे-
र्विचिन्त्य चिन्ताकुलतामगच्छम् ॥ १ ॥

कभी एकान्त में बैठे हुए, जब कि विचारों के प्रवाह से चित्त आन्दोलित हो रहा था, मातृ-भूमि भारत की हीन दशा को सोचते-सोचते मैं चिन्ता से व्याकुल हो गया ।

शोकाग्निना दग्धमिवातिदीनं
मनस्तदा मे गतधैर्यमासीत् ।
धूमेन वह्नेर्नु समुत्थितेन
व्याप्तं शिरश्चेतनतामहासीत् ॥ २ ॥

उस समय शोक-रूपी वह्नि से मानो जले हुए मेरे अतिदीन मन ने धैर्य को खो दिया । उस वह्नि से मानो उठे हुए धुँए से मेरा मस्तिष्क व्याप्त हो गया और उसकी चेतनता जाती रही ।

ज्वालाद्रिनिस्फोटनतो नु जातं
भयावहं वेपथुमन्वभूयम् ।
विदीर्णमस्माद् धृदयं मदीयं
मग्नस्तथासीत्तमसीव लोकः ॥ ३ ॥

उस समय ज्वालामुखी पर्वत के विस्फोट से उत्पन्न जैसे कम्पन को मैंने अनुभव किया । इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि सारा संसार अन्धकार में डूब गया है ।

आवर्त्तमध्ये पतितेव नौका
शोकाब्धिमग्नं हृदयं ममासीत् ।
राहुर्यथा पीडयतीन्दुबिम्बं
ग्रस्तो महैर्दुष्टतरैस्तथासम् ॥ ४ ॥

उस समय भँवर के बीच में पड़ी हुई नौका के समान मेरा हृदय शोक-सागर में डूब रहा था। जैसे राहु चन्द्रमा के बिम्ब को पीड़ित करता है, उसी प्रकार दुष्ट ग्रहों से मैं ग्रस्त हो रहा था।

आसीदवस्था मम या तदानीं
वाणी न वक्तुं खलु तां समर्था ।
आपादचूडं सुतरां निमग्न-
स्तदाभवं दुःखपयोधिमध्ये ॥ ५ ॥

उस समय मेरी जो अवस्था हो रही थी वाणी उसको नहीं कह सकती। उस समय मैं पैर से लेकर सिर तक दुःख-सागर में बिल्कुल डूबा हुआ था।

समासीनस्यैवं मम मनसि चिन्तापरवशे
शुचा दग्धे, लीने नयनयुगले घोरतमसि ।
तदा चित्रे कस्मिंश्चिदपि मम दृष्टिर्हि सहसा
गता, येनैवाहं झटिति गतशोकः समभवम् ॥ ६ ॥

इस दशा में बैठे हुए, जब कि चिन्ता से व्याकुल मेरा मन शोक से जल रहा था और नयन-युगल घोर अन्धकार में पड़े थे, सहसा मेरी दृष्टि एक चित्र पर जा पड़ी। उससे मेरा सारा शोक तत्काल जाता रहा।

तस्मिंश्च चित्रे मृदुरम्यगात्रं
कौपीनमात्रं वसनं वसानम् ।
वेदेषु श्रद्धातिशयं दधानं
धर्मस्य पोतस्य च कर्णधारम् ॥ ७ ॥

विस्मृत्य सर्वं स्वपरत्वभावं
दीनेषु हीनेषु दयास्वभावम् ।
पद्मासनेन स्थितमासनेऽहं
समाधिनिष्ठं यमिनां वरिष्ठम् ॥ ८ ॥

सव्ये च वेदैरथ दक्षिणाङ्गे
कुण्ड्या यतीनामतिशोभमानम् ।
आस्यप्रभातोऽमृतमास्रवन्तं
तपोधनं ज्ञानवतां गरिष्ठम् ॥ ९ ॥

अभ्यन्तरे प्रज्वलतीव यस्य
निरन्तरं धर्ममयः कृशानुः ।
तं श्रीदयानन्दमुनिं महर्षि-
मपश्यमानन्दपयोधिमग्नम् ॥ १० ॥

उस चित्र में
मृदु और सुन्दर शरीर वाले,
कौपीन-मात्र वस्त्र को पहने हुए,
वेदों में अत्यन्त श्रद्धा को रखने वाले,
धर्म के पोत के कर्णधार;
अपने और पराये के भेद-भाव को भूल कर
दरिद्र और दीन-दुखियों पर दया-स्वभाव वाले,
आसन पर पद्मासन से बैठे हुए,
समाधिनिष्ठ, यतियों में श्रेष्ठ,
वामभाग में वेद की पुस्तकों से और दक्षिण भाग में
सन्यासियों के कमण्डलु से अत्यन्त शोभायमान,
मुख की प्रभा से अमृत को बरसाते हुए,
तपोधन, ज्ञानियों में गरिष्ठ,
जिनके अन्दर निरन्तर मानो
धर्म की ज्वाला प्रज्वलित हो रही है,
आनन्द-सागर में मग्न उन महर्षि
श्री स्वामी दयानन्द मुनि को मैंने देखा ॥

यदीयमालोकनमप्यघानि
निर्हन्ति पुंसां चिरसञ्चितानि ।
दृष्ट्वा मुनिं तं कमनीयकान्ति-
मयं विचारो हृदि प्रादुरासीत् ॥ ११ ॥

जिनके दर्शन-मात्र से मनुष्यों के चिर-सचित पाप नष्ट हो जाते हैं उन कमनीय-कान्ति मुनि को देख कर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—

ये कुन्दसुतय: समस्तभुवनैः कर्णावतंसीकृता:
यैः सर्वत्र शलाकयेव लिखितैर्दिग्भित्तयश्चित्रिताः ।
यैरुक्तुं हृदि कल्पितैरपि वयं हर्षेण रोमाञ्चिता-
स्तेषां धर्मनिधिर्ह्ययं नु महतामेको गुणानां निधिः ॥ १२ ॥

जिन कुन्दावदात महान् गुणों को सुनने के लिए समस्त लोक लालायित रहते हैं, शलाका से मानो लिखे हुए जिनगुणोंसे दिग्रूपी भित्तियाँ चित्रित हो रही हैं, जिनके विषय में कहने के लिए हृदय में संकल्प मात्र से हम सब हर्ष से रोमाञ्चित हो जाते हैं, ये धर्मनिधि महात्मा उन महान् गुणों के एकमात्र निधि हैं ।

समालोक्यैवाहं प्रचुरशमदं शान्तिनिलयं
महर्षेस्तच्चित्रं निखिलभवतापापहरणम् ।
समाश्वासं लब्ध्वा समवहितचित्तः कथमपि
पुरस्तात्तस्यैवं निजहृदयगाथामकथयम् ॥ १३ ॥

प्रचुर शान्ति को देने वाले, स्वयं शान्ति के स्थान, और संसार के समस्त तापों को हरने वाले महर्षि के उस चित्र को देखते ही सान्त्वना को पाकर किसी प्रकार चित्त को सावधान करके उसके सामने मैंने अपने हृदय की गाथा को इस प्रकार कहा-

लब्धप्रसारं परितो जगत्या-
महानजं पापमपास्य घोरम् ।
ज्ञानोपदेशेन जनेषु धर्मं
संस्थापयंस्त्वं जयसीह लोके ॥ १४ ॥

संसार में चारों ओर फैले हुए अज्ञान से उत्पन्न घोर पाप को हटाकर ज्ञानोपदेश द्वारा मनुष्यों में धर्म की स्थापना करने वाले आप की लोक में जय हो !

सत्योपदेशैर्ननु गर्जयित्वा
प्लावय्य धर्मामृतमा समन्तात् ।
पापाग्निकीलावलिदग्धचित्ताम्
सञ्जीवयंस्त्वं जयसीह लोके ॥ १५ ॥

सत्य के उपदेशों से मानो गरज कर सब ओर धर्म रूपी अमृत की वर्षा द्वारा पाप-रूपी अग्नि की ज्वालाओं से दग्ध-चित्त लोगों को जीवन-प्रदान करने वाले आप की लोक में जय हो !

---

१ "वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्" (अमरकोष १।१।६०) ।

सत्यप्रियोऽसत्यनिवारणोत्कः
समस्तलोकस्य हिते सनिष्ठः ।
शास्त्रार्थगोष्ठीषु धुरन्धरस्त्वं
विद्वद्वरेण्यो जयसीह लोके ॥ १६ ॥

सत्य को प्यार करने वाले, असत्य के निवारण में उत्सुक, सब लोगों के हित के संपादन में आस्था रखने वाले, शास्त्रार्थ सभाओं में धुरंधर और विद्वानों में श्रेष्ठ आप की लोक में जय हो !

गोब्राह्मणानामतिदुर्दशां ताम्
अनाथदीनानथ हीनसत्त्वान् ।
दृष्ट्वातिमात्रेण दयार्द्रचित्तो
यथार्थनामा जयसीह लोके ॥ १७ ॥

गौ और ब्राह्मणों की अत्यन्त दुर्दशा को तथा अनाथ दीन और दुर्बलों को देख कर दया से अत्यन्त आर्द्र चित्त तथा यथार्थ नाम वाले आपकी लोक में जय हो !

भवन्तं संस्तुत्य प्रगतविधिनाहं गुरुवर !
समासाद्योच्छ्वासं तव वदनचन्द्रादविरलम् ।
विनीतो यद्यान्यद् विवदिषुरिदानीं, करुणया
प्रहीतव्यं, सन्तः परहितपराः सन्ति सततम् ॥ १८ ॥

गुरुवर ! नम्रता पुरःसर आप की स्तुति कर के आप के मुखचन्द्र से मैंने पर्याप्त सान्त्वना प्राप्त की है । मैं विनीत भाव से और जो कुछ निवेदन करना चाहता हूँ उस को कृपया सुनिए, सत्पुरुष सदा दूसरों का हित करने में तत्पर रहते हैं ।

सर्वव्यवस्थास्वतिरेकभावात्
स्वार्थप्रवृत्तेर्विलयोन्मुखासु ।
स्वच्छन्दमार्गेषु विजृम्भितेषु
सर्वत्र हा-हा-कृतमाविरासीत् ॥ १९ ॥

स्वार्थ की प्रवृत्ति के अत्यन्त बढ़ जाने से सारी व्यवस्थाओं के नष्टप्राय हो जाने पर और स्वच्छन्द मार्गों के प्रबल हो जाने पर देश में सर्वत्र हाहाकार मच गया ।

मोहान्धकारे प्रसृते समन्ताद्
अस्तंगते शाश्वतधर्मभानौ ।

मतान्यसंख्यानि समस्तदेशे

तारा रजन्यामिव प्रादुरासन् ॥ २० ॥

शाश्वत या सनातन धर्मरूपी सूर्य के अस्त हो जाने पर सब ओर अज्ञान का अन्धकार फैल गया। ऐसी दशा में रात्रि में तारों के समान समस्त देश में असंख्य मत मतान्तर चल पड़े।

देशे ततो दुर्बलतां प्रयाते

विनष्टसत्त्वे हतगौरवे च।

प्रजासु न्याय्येतरमार्गगासु

वैदेशिकैः शासनमत्र लब्धम् ॥ २१ ॥

उक्त कारण से देश के दुर्बल, निस्सत्त्व और गौरवविहीन हो जाने पर तथा जनता के नैतिकता से विपरीत मार्ग में चलने पर विदेशियों ने देश में अपना शासन स्थापित कर लिया।

चिराय तच्छासनतो विशीर्णा

परम्परा भारतसंस्कृतेः सा।

विलुप्तधैर्या अथ भारतीयाः

परेश्वरं प्रार्थयितुं प्रवृत्ताः ॥ २२ ॥

चिरकाल तक रहने वाले विदेशी शासन से भारतीय संस्कृति की विश्व प्रसिद्ध प्राचीन परम्परा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। तब भारतवर्ष-वासी अधीर होकर परमेश्वर से प्रार्थना करने लगे—

त्रायस्व लोकेश ! दयासमुद्र !

दिने दिने वर्धत एव पापम्।

सर्वस्वहीना हतभागधेया

विचारमूढा वयमद्य सर्वे ॥ २३ ॥

हे लोकों के स्वामिन्, दया के समुद्र भगवन् ! हमारी रक्षा कीजिए। दिनों दिन पाप बढ़ रहा है। सब कुछ खोकर आज हम सब अभागे किंकर्तव्य-विमूढ हो रहे हैं।

विस्मृत्य कर्तव्यपथं स्वकीयां

परम्परां तां जगतोऽभिवन्द्याम्।

असत्यमार्गेषु रताः समन्ताद्

दूयामहेऽनर्थपरम्पराभिः ॥ २४ ॥

कर्तव्य-पथ की ओर जगद्वन्दनीय अपनी उस प्रसिद्ध परम्परा को भूलकर हम उलटे मार्गों पर चलने से अनेकानेक आपत्तियों द्वारा सब ओर से सताये जा रहे हैं।

आसीत्पुरा यद् बहुमानपात्रं
विद्यागुरुत्वेन च यत्प्रसिद्धम्।
तद्भारतं हीनदशां प्रपन्न-
मनादरस्यास्पदमद्य जातम् ॥ २५ ॥

जो भारत प्राचीन काल में अत्यन्त संमानित था, जो विद्या-गुरु के रूप में प्रसिद्ध था, वह आज हीन दशा को पाकर अनादर का पात्र बन गया है।

धनेन धान्येन सुपुष्कलेन
स्वास्थ्येन वृत्तेन च सूपपन्नम्।
आसीत्तदेवाद्य ततो विहीनं
दृष्ट्वा प्रभो ! त्वां शरणं व्रजामः ॥ २६ ॥

जो भारत देश प्राचीन काल में पुष्कल धन और धान्य, तथा स्वास्थ्य और चारित्र्य से संपन्न था, उसी को आज उन सब से विहीन देखकर हे प्रभो ! हम आप की ही शरण में आते हैं।

रामः क्व रावणकुलस्य स धूमकेतुर्
यावच्चतुर्दश समाः पितुराज्ञया यः।
सत्यव्रतो गहनकाननमध्यवर्ती
रक्षांसि मृत्युपथमाशुतरामनैषीत् ॥ २७ ॥

जिन्हों ने पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष तक गहन कानन में निवास किया और अतीव शीघ्रता से राक्षसों का संहार कर डाला, रावण के कुल को नाश करने वाले वे सत्य-व्रती राम कहाँ हैं ?

क्वाजातशत्रुरिह यः कुरुवंशदीपः
कालं निनाय विपिने स्वपणेन बद्धः।
आजन्म येन वितथा नहि वागभाणि
ख्यातिं गतोऽखिलभुवि स्वगुणैरुदारैः ॥२८॥

जिन्होंने अपने वचन से बद्ध हो कर जंगल में समय को व्यतीत किया, जन्म-पर्यन्त मिथ्या-भाषण नहीं किया, और अपने उदार गुणों से समस्त पृथ्वी पर यश को प्राप्त किया, कौरव-वंश को प्रकाशित करने वाले वे अजातशत्रु युधिष्ठिर कहाँ हैं ?

भीष्मोऽपि कुत्र भुवने बलिनां बलिष्ठः
संप्रीणनाय पितुरात्मबलिं विधाय ।
मत्वा तृणाय निखिलामपि राज्यलक्ष्मी-
माजीवनं स्म चरति व्रतिनां व्रतं यः ॥ २६ ॥

जिन्हों ने पिता की प्रसन्नता के लिए अपने को बलि देकर, और समस्त राज्य-लक्ष्मी को तृण समान मान कर जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया था, बलियों में बलिष्ठ वे भीष्मपितामह आज संसार में कहाँ हैं ?

स्नेहानुरागपरमोऽग्रजपादपद्म-
द्वन्द्वे, विहाय विविधानि सुखान्यरण्यम् ।
यातः समुज्ज्वलयशा ननु लक्ष्मणो यः
कास्तेऽधुना स पुनरिन्द्रजितो विजेता ॥ ३० ॥

जिन्हों ने अपने ज्येष्ठ भ्राता के पाद-पद्मों में स्नेह और अनुराग के कारण नाना प्रकार के सुखों को छोड़ कर वनवास स्वीकार किया था, वे समुज्ज्वल यशवाले और इन्द्रजित् (मेघनाद) पर विजय पानेवाले लक्ष्मण आज कहाँ हैं !

प्राप्तं च राज्यमखिलं तृणवद्विहाय
चीरं जटाश्च परिधाय पुराद्बहिर्यः ।
भ्रातुर्वनं गतवतः प्रतिपालनेन
कालं निनाय भरतः क्व गतोऽधुना सः ॥ ३१ ॥

हाथ में आये हुए समस्त राज्य को तृण के समान छोड़ कर तथा चीर और जटाओं को धारण कर जिन्हों ने वन-वास में गये हुए अपने भाई की प्रतीक्षा में नगर से बाहर रहकर समय को व्यतीत किया था वे भरत अब कहाँ हैं ?

हा क्रूर ! काल ! भवता किमिदं व्यधायि
हीनां दशां यत इमां गत एष देशः ।
एवं स्थितेऽपि दयसे न समीक्षमाणः
को वेद का नु गतिरस्य भविष्यतीति ॥ ३२ ॥

हे क्रूर काल ! तुम ने यह क्या कर डाला जिस से यह देश इस हीन दशा को पहुँच गया ! ऐसी स्थिति में सब कुछ देखते हुए भी यदि तुम दया नहीं करते, तो कौन जानता है कि इस देश की क्या दशा होगी !

तस्मात्त्वमेव भगवन्निममार्त्तनादं
श्रुत्वा विधेहि करुणामयि दीनबन्धो ! ।
लोकत्रयस्य परिपालयितारमीशं
त्वामेव भो अशरणैकशरण्यमाहुः ॥ ३३ ॥

ऐसी दशा में हे दीनबन्धो ! भगवन् ! इस आर्तनाद को सुनकर आप ही कृपा करें। आप तीनों लोकों की रक्षा करनेवाले ईश्वर हैं; आप ही 'अशरणों के एकमात्र आश्रय' कहे जाते हैं।

त्वं त्रायसे हि बलिनं, न तदा महत्त्वं
दीनान् समुद्धरसि, तर्हि तु ते महत्त्वम् ।
धाराधरस्य किमु वर्षणमब्धिमध्ये ?
तच्चेन्मरौ भवति तस्य महत्त्वमाहुः ॥ ३४ ॥

आप यदि बलवान् की रक्षा करते हैं तो इसमें आप का कोई महत्त्व नहीं; यदि आप दीनों का उद्धार करते हैं, तभी आप का महत्त्व है। समुद्र में मेघ के बरसने से क्या लाभ ? मरुस्थली में बरसने पर ही उस का महत्त्व माना जाता है।

इत्थं प्रजाभिर्बहु प्रार्थितः सन्
लोकैकनाथोऽपि दयां चकार ।
संप्रेषितो यद् यमिनां वरिष्ठः
स्वामी दयानन्दसरस्वती त्वम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जनता के बहुत प्रार्थना करने पर लोकों के एकमात्र स्वामी भगवान् ने दया की और यमियों (मुनियों) में श्रेष्ठ आप स्वामी दयानन्द सरस्वती को भारत में जन्म दिया।

दयापरस्त्वं जगदुद्दिधीर्षुः
शास्त्राणि वेदांश्च समध्यगीष्ठाः ।
सत्यप्रकाशेन ततः समन्तात्
प्रजागरोऽदृश्यत नूत्न एव ॥ ३६ ॥

दयालुस्वभाव वाले आपने जगत् के उद्धार की इच्छा से शास्त्रों और वेदों को पढ़ा। तदनन्तर सत्य के प्रकाश से एक नवीन जागरण सब ओर दिखाई देने लगा।

चिराय मोहोऽपगतः प्रजानां
जातोऽपि भूयः स्वपरावबोधः ।
विदेशिनामाक्रमणस्य रोध-
चिन्ता पदं लब्धवती समन्तात् ॥ ३७ ॥

जनता में चिरकाल से फैला हुआ अज्ञान दूर हो गया। फिर से अपने और पराये का ज्ञान उत्पन्न हुआ। विदेशियों के आक्रमण को रोकने की चिन्ता देश में सर्वत्र फैलने लगी।

गीर्वाणवाण्याः पठनप्रवृत्तिर्
भूयोऽभितो भारतमाविरासीत् ।
स्वसंस्कृतेश्चोद्धरणस्य वार्ता
पुनः श्रुतेर्गोचरतामयासीत् ॥ ३८ ॥

भारतवर्ष में चारों ओर देववाणी (संस्कृत भाषा) के पढ़ने की प्रवृत्ति फिर से दृष्टिगोचर होने लगी। अपनी संस्कृति के उद्धार की वार्ता पुनः सुनाई देने लगी।

तथापि वैदेशिकराज्यशक्ति-
स्तथा तदाचारविचाररीतिः ।
विजृम्भमाणा परितोऽत्र देशेऽ-
स्मदीययत्नान् विफलीकरोति ॥ ३९ ॥

इस पर भी हमारे भारतवर्ष में सब ओर से बढ़ती हुई विदेशियों के राज्य की शक्ति तथा उनके आचार-विचार की रीति हमारे प्रयत्नों को विफल कर रही है।

वयं तदस्मिन् विषये विमूढा
उत्साहचारित्र्यविवेकहीनाः ।
आत्मन्यविश्वासहता निराशा-
पात्राणि नः शाधि विधेयमत्र ॥ ४० ॥

सो इस विषय में हम किंकर्तव्य विमूढ हो कर उत्साह, चारित्र्य और विवेक को खो चुके हैं। आत्म-विश्वास के न होने से निराशा ने हम को घेर रखा है। हम को बतलाइए, यहाँ हम क्या करें।

समाकर्ण्यैतां मे विनतिपरिपाटीं करुणया
स्मितं कुर्वन्मन्येऽमृतमिव समाश्वासबहुलम् ।

अगादीत्तच्चित्रं मितममितसारं ननु वचो
ह्यधोनिर्दिष्टं यत्पुनरपि समाधिं नु समधात् ॥ ४१ ॥

मेरी उक्त विनति को सुन कर, मुझे ऐसा लगा कि, करुणा-पुरःसर अमृत के समान सान्त्वना देनेवाले स्मित को करते हुए उस चित्र ने संक्षिप्त, पर सारगर्भित, निम्न-निर्दिष्ट वचन को कहा और फिर समाधि को धारण कर लिया।

"ब्रह्मचर्यं महान् यज्ञो ब्रह्मचर्यं महत्तपः ।
ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले ॥ ४२ ॥
मनीषितानामर्थानां सिद्धयै तद्भूतये तथा ।
भारते ब्रह्मचर्यस्य पुनः स्थापनमिष्यताम्" ॥ ४३ ॥

"ब्रह्मचर्य एक महान् यज्ञ है। ब्रह्मचर्य महान् तप है।
प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति संसार में ब्रह्मचर्य से हो सकती है।
इसलिए अभीष्ट अर्थों की सिद्धि और उनके उत्कर्ष के लिए
भारतवर्ष में फिर से ब्रह्मचर्य की स्थापना करनी चाहिए।"

तदेतदतिसङ्क्षिप्तं चित्रेण ननु घोषितम् ।
प्रकृतापेक्षिणी तस्य काचिद् व्याख्या विधीयते ॥ ४४ ॥

अति संक्षेप में मानो चित्र ने यही घोषित किया। प्रकृत विषय की दृष्टि से उसकी थोड़ी सी व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम् ।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥ ४५ ॥
तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते ।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥ ४६ ॥

सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अक्षय्य, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है उसको, तथा ज्ञानरूप वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहते हैं। उस ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं।

समष्टिरूपं यद् ब्रह्म तद्रूपं ज्ञानमेव यत् ।
ताभ्यां सायुज्यसंपत्त्यै ब्रह्मचारी सदेप्सति ॥ ४७ ॥

समस्त पदार्थों की समष्टि-रूप जो ब्रह्म है, तथा समष्ट्यात्मक (अथवा व्यापक) जो ज्ञान है, उन दोनों के साथ सायुज्य अथवा तादात्म्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी सदा उत्सुक रहता है।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥ ४८ ॥
"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि[1]", "भद्रं भद्रं न आभर[2]" ।
इत्येवं बहुशो मन्त्रैरेष एवार्थ उच्यते ॥ ४९ ॥

उक्त मानसिक परिस्थिति में वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है।

"तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो", "भगवन्! हमारे लिए बराबर कल्याण को ही लाइये" इस प्रकार अनेकानेक वेद मन्त्र इसी बात को कहते हैं।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः सञ्चयस्तथा ।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥ ५० ॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा ।
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे ॥ ५१ ॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) में उसका (=ब्रह्मचारी का) मुख्य कर्तव्य होता है : अपनी शक्तियों का विकास और संचय, मन वाणी और शरीर के संयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम् ।
तपसा वर्तमानः स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ ५२ ॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेण शुद्धधीः ।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वत्रेष्टे न संशयः ॥ ५३ ॥

तप से चरित्र की दुर्बलताओं को दूर कर और मनोविकारों द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने पर समस्त परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है।

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः[3]" ।
"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति[4]" ॥ ५४ ॥

---

१. ऐतरेयब्राह्मण १।१३। २. सामवेद पू० ४।८।९। ३ अथर्व० ११।५।२४। ४. अथर्व० ११।५।४।

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[1] ॥ ५५ ॥
"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[2] ॥ ५६ ॥
इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया ।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते ॥ ५७ ॥

"ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ब्रह्म (=समष्टिरूप ब्रह्म अथवा ज्ञान) को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात्, वह समस्त दैवी शक्तियों से प्रकाश और प्रेरणा को प्राप्त कर सकता है)।"

"समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को आपूरित करता है (अर्थात्, समस्त राष्ट्र के उत्थान में सहायक होता है)।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारियों को अपने शिक्षण और निरीक्षण में लेने की योग्यता और क्षमता को संपादन करता है।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओं को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है (अर्थात्, संयत जीवन से रहने वाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने में समर्थ होता है)।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र अपनी उदात्त भाषा में ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते हैं।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते ।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥ ५८ ॥

जैसे किसी महल के बनाने में नींव की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥ ५९ ॥

तप के रूप में ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

---

१. अथर्व० ११।५।१७ । २. अथर्व० ११।५।१९ ।

४

इत्येवमाश्चर्यमयं महर्षे-
श्चित्रस्य श्रुत्वा नु वचो गभीरम् ।
अपास्तशङ्कः सुतरां प्रसन्न-
स्तत्कार्यसिद्धयै व्रतमग्रहीषम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार मानो महर्षि के चित्र के गम्भीर वचनों को सुनकर मेरी शंकाएँ दूर हो गयीं, और मैं ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए व्रत ले लिया ।



(२)

व्रतमात्मविशुद्धये

व्रत से आत्मशुद्धि

ऊपर की रचना में ब्रह्मचर्य-व्रत के वर्णन के अन्त में व्रत ग्रहण की बात भी कही गयी है । इसीलिए व्रताचरण के महत्त्व को दिखाने वाली निम्नस्थ रचना को यहाँ देना उचित प्रतीत होता है ।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है । आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम पालन से ही प्राप्त हो सकते हैं । जीवन में व्रतों के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है । इसी सिद्धान्त का विशदी-करण किसी व्रती के मुख से नीचे के पद्यों में कराया गया है:—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः ।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ॥ १ ॥

अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए मैं उत्सुक हूँ । आत्मविशुद्धि या पवित्राचरण से ही यह हो सकता है । उस आत्म-विशुद्धि के लिए व्रताचरण की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम् ।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम् ॥ २ ॥

व्रतों के पालन से ही संयमी मनुष्यों को अपने उस गूढ स्वरूप का दर्शन होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है ।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के आचरण से ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है ।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः ।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः ॥ ३ ॥

संसार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियों और मुनियों ने वास्तव में इसी प्रशस्त मार्ग का सेवन किया था ।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को भी प्राप्त कर सकता है ।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम् ।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥ ४ ॥

विश्व के विभिन्न कार्यों को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं को व्रतों के पालने के कारण ही अमृत-भोजी (= अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है । दूसरे शब्दों में, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के संचालनार्थ अपने अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते हैं । इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है ।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है ।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते ।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ५ ॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है । दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है । दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है ।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है ।

(३)

आत्मवत्तागुणोपेता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः

ब्रह्मचारी की शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा का प्रश्न बड़ा गहन है। वर्तमान भारत की यह एक महती समस्या है। नीचे के पद्यों से इस समस्या के संबन्ध में कुछ प्रकाश अवश्य मिलेगा, ऐसी हमें आशा है:—

चारित्र्येण समं शिक्षा श्रमेण तपसा तथा।
अनुशासनसंजुष्टा सा लक्ष्यं ब्रह्मचारिणः ॥ १ ॥

चारित्र्य, श्रम और तप के साथ तथा अनुशासन से युक्त शिक्षा ही ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहने वाले का लक्ष्य होती है।

सर्वेषामपि भूतानां मूर्धन्यं पदमास्थितम्।
साधनं सर्वसिद्धीनां यत्तन्मानुष्यकं मतम् ॥ २ ॥
आसुरीं वृत्तिमुत्सृज्य दैवं भावमुपाश्रितम्।
यया संपद्यते शिक्षा सा लक्ष्यं ब्रह्मचारिणः ॥ ३ ॥

समस्त प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट पद में स्थित और सब सिद्धियों की एकमात्र साधन मनुष्यता आसुरी प्रवृत्तियों को छोड़ कर जिस शिक्षा द्वारा दैवी प्रवृत्तियों को धारण करती है वही ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहने वाले का लक्ष्य होती है।

शिक्षा या केवलं स्वार्थ-बुद्धिं पुष्णाति सर्वथा।
विषयेष्विन्द्रियारामप्रवृत्तिर्वर्धते यया ॥ ४ ॥
तां समूलं समुत्सार्य लोककल्याणकाम्यया।
आत्मवत्तागुणोपेता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥

जो शिक्षा सब तरह से केवल स्वार्थ-बुद्धि को पुष्ट करती है और जिससे विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति बढ़ती है लोक-कल्याण की कामना द्वारा उसका समूल उन्मूलन कर के आत्मसंयम की भावना से युक्त शिक्षा ही ब्रह्मचारी का लक्ष्य होती है।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवनस्य यया भवेत् ।
सदाचारसमृद्धेश्च सौरभं सुमनोहरम् ॥ ६ ॥
सर्वलोकसमाकर्षि देशव्यापि यया भवेत् ।
आशाप्रकाशसंयुक्ता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः ॥ ७ ॥

जिस से जीवन का उत्तरोत्तर उत्कर्ष हो और जिससे सारे जगत् को आकृष्ट करने वाला सदाचार की समृद्धि का सुमनोहर सौरभ देशभर में फैल जाए, जीवन में आशावाद के प्रकाश को देनेवाली ऐसी शिक्षा ही ब्रह्मचारी का लक्ष्य होती है।



(४)

ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम्

ब्रह्मचर्य की महिमा

उह्यमानस्य विवशं भावानां तीव्रधारया ।
आत्मविश्वासमाधत्ते ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ १ ॥

भावों की तीव्र धारा में बेबस हो कर बहते हुए मनुष्य में जो आत्म विश्वास को उत्पन्न करता है उस ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

शारीरं मानसं वापि स्वास्थ्यमाध्यात्मिकं तथा ।
अभीष्टं चेत्तदा सर्वैर्ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ २ ॥

यदि शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य की इच्छा है तो सबको ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

(५)

ब्रह्मचारिणः परेशस्तोत्रम्

ब्रह्मचारी की ईश्वर से प्रार्थना

शम्भो ! परेश ! मम वाचमिमां जुषस्व
संयोज्य पाणियुगलं विनयान्नतस्य ।
पापं विधूय शुभमार्गरतो भवेयं
चारित्र्यरक्षणपरो व्रतमाचरेयम् ॥ १ ॥

हे शम्भो ! हे परेश !
दोनों हाथ जोड़कर मैं विनय-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।
मेरी इस वाणी पर कृपा-पूर्वक ध्यान दीजिए ।
मैं चाहता हूँ कि पाप को दूर करके मैं सदा शुभ मार्ग में रत रहूँ, और
चारित्र्य की रक्षा करते हुए अपने व्रत का पालन करता रहूँ !

शारीरमानसविकारकरालबाधा-
विध्वंसनाय परनिर्वृतिसाधनाय ।
लोकद्वयेऽभिलषितार्थविवर्धनाय
प्रार्थीभवामि भगवन् ! व्रतिनां व्रताय ॥ २ ॥

हे भगवन् !
शारीरिक और मानसिक विकारों की
भयंकर बाधाओं को विध्वंस करनेवाले,
परम संतोष के साधनीभूत, और
लोक तथा परलोक में अभीष्ट अर्थों की वृद्धि करने वाले
ब्रह्मचर्य-व्रत के लिए
मैं आप से प्रार्थना करता हूँ ।

चेदापदां नु निवहः पतितोऽमितः स्यात्
चेत्कष्टजातमभितोऽभिगतं वतं स्यात् ।
प्राणप्रयाणभयमभ्युदितं भवेचेद्
याचे तथापि मम चित्तमनाकुलं स्यात् ॥ ३ ॥

अनन्त आपत्तियों के समूह के उपस्थित होने पर भी,
चारों ओर बराबर कष्टों से घिरे होने पर भी,
प्राणों के चले जाने के भय के आ जाने पर भी,
मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरा चित्त व्याकुल न हो।

प्रावोच्चयोपचितपर्वतमस्तके वा
नानातरङ्गकुलसंकुलसागरे वा।
व्याघ्रादिहिंस्रनियहाकुलकानने वा-
ऽन्यत्रापि देव! सततं भवतः स्मरेयम्॥ ४॥

पर्वत-श्रेणियों से युक्त महान् पर्वतों के शिखर पर,
अथवा असंख्य तरङ्गों से व्याकुल समुद्र में,
अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशुओं के समूह से भयङ्कर कानन में,
तथा अन्यत्र भी हे देव! मैं सदा आपका स्मरण रखूँ।

तिष्ठन् व्रजंश्च भगवन्नथवा शयानो
रात्रौ दिनेऽप्युषसि सायमथान्यदा वा।
पातालगर्तिकुहरे दिवि वा पृथिव्यां
सर्वत्र ते स्थितिमहं कलयानि भूमन्!॥ ५॥

हे भगवन्! हे भूमन्! (भूमन् = महान्, परमात्मन्)
ठहरे हुए, चलते हुए, अथवा शयनार्थ लेटे हुए,
रात में, दिन में, उष काल में, सायंकाल अथवा किसी दूसरे समय,
पाताल की गुफा में, द्युलोक अथवा पृथ्वी में—
सर्वत्र मैं आप की स्थिति का अनुभव करूँ।

द्वन्द्वानि यानि जगतीह शरीरिजातं
खिन्नं परं विदधते जगदीश! नित्यम्।
सोढुं क्षमो भवति तानि जनो यतोऽयं
सामर्थ्यमेतदतुलं मयि संनिधेहि॥ ६॥

हे जगदीश्वर!
जो काम-क्रोधादि द्वन्द्व इस संसार में
प्राणिवर्ग को सदा अत्यन्त खिन्न करते रहते हैं,
उनको जिससे मैं दबा सकूँ
उस अतुल सामर्थ्य को मुझ में सन्निहित कीजिए।

अङ्गानि यानि मुनिभिः प्रतिपादितानि
कारुण्यवारिधिभिरात्महितोचितानि ।
योगस्य, तैरनुदिनं मनसो विशुद्धया
प्रज्ञाप्रसादमधिगन्तुमहं लषामि ॥ ७ ॥

करुणा के सागर मुनियों ने आत्म-हित-संपादन में उचित
योग के जिन अङ्गों का प्रतिपादन किया है[1],
उनसे मन की विशुद्धि द्वारा
प्रज्ञा-प्रसाद[2] की प्राप्ति के लिए मैं उत्सुक हूँ।

१. 'प्रज्ञा-प्रसाद' का वस्तुतः क्या अभिप्राय है, इसका समाधान नीचे के पद्य में दिया गया है:—

योऽयं परेश ! मम चेतसि संप्ररूढो
दुर्वासनाप्रचयपाकवशान्मलौघः ।
तन्नाशनाय करुणां कुरु शंकर ! त्वं
तत्त्वस्वरूपमनघं मम येन भाति ॥ ८ ॥

हे परेश !
यह जो मेरे चित्त में दुर्वासनाओं के परिपाक से
मल का ढेर एकत्रित हो गया है,
उसके नाश के लिए हे शंकर ! आप कृपा करें,
जिससे परमतत्त्व के निष्पाप (= विशुद्ध) स्वरूप को मैं देख सकूँ।

पापान्निवारय, विधेहि शमे मतिं मे,
सत्ये रतां समधिकां मयि धेहि मेधाम् ।
विश्वासमात्मनि जगद्धितसाधनोत्कां
निःस्वार्थबुद्धिमथ मे भगवन् ! प्रयच्छ ॥ ९ ॥

---

१. देखिए—"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" (योगसूत्र २।२९)। अर्थात्, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि,–योग के ये आठ अंग माने जाते हैं।

२. तु० "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।" (योगसूत्र १।४७, ४८)। तथा "(निर्विचारवैशारद्ये सति) समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्ति ।" (योगसूत्र १।४८ पर व्यासभाष्य)।

हे भगवन् !
पाप से हटाकर मेरी मति को शान्ति-प्रदान कीजिए;
सत्य में रत तीक्ष्ण मेधा को मुझ में स्थापित कीजिए;
आत्म-विश्वास के साथ-साथ जगत् के हित-
साधन में उत्सुक निःस्वार्थ-बुद्धि को भी मुझे दीजिए।

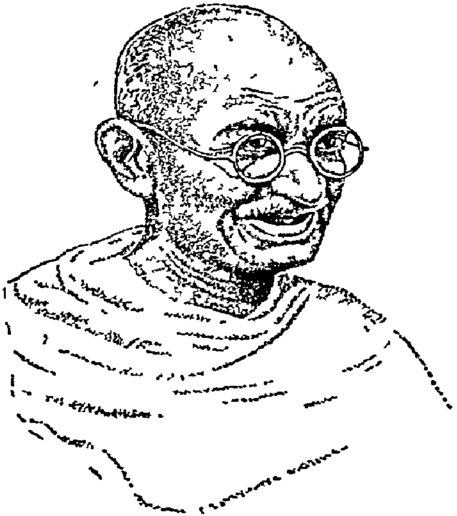
हे लोकेश ! दृशं सदा सकरुणां मय्यर्पयारामदां
हेलोन्मूलितपाप ! देहि भवतो भक्तिं सदा शर्मदाम् ।
येनाहं गुणिनां गणे तव गुणान् गायेयमत्यादराद्
ये नाहंकृतचेतसां श्रुतिपथं यान्तीव शान्ता दरात् ॥ १० ॥

॥ इत्यमृतमन्थने लक्ष्यानुसन्धानं नाम प्रथमः परिप्लवः ॥

हे लोकेश ! मुझ पर सदा करुणामय तथा आनन्दप्रद दृष्टि डालिए;

सरलता से पाप को नष्ट करने वाले ! सदा कल्याण-कारिणी अपनी भक्ति को दीजिए।

जिससे मैं अत्यादर के साथ गुणियों के मध्य में आपके इन गुणों का गान कर सकूँ,
जो मानो डर से शान्त हुए अहंकारी लोगों के श्रवण में नहीं आते हैं।



विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी

सत्याहिंसाव्रतो धीरदास्यादमोचयत् ।
आत्मिकस्य बलेनैव भारतं, महदद्भुतम् ॥
विश्ववन्द्यो महात्मासौ दीनोद्धारपरायणः ।
सर्वेऽस्मदादीनां प्रीतिविषयोऽतराम् ॥

द्वितीयः परिस्रवः

जीवन-पाथेयम्

अग्ने ! नय सुपथा राये ।

(यजु० ४०।१६)

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।

(ऋग्० ५।५१।१५)

परि माग्ने ! दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज ।

(यजु० ४।२८)



द्वितीय प्रवाह

जीवन-पाथेय

प्रकाशस्वरूप देव ! अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए हमें कल्याणमार्ग से ले चलिए ।
(यजु० ४०।१६)

सूर्य और चन्द्रमा के समान हम अपने जीवन-मार्ग पर सकुशल चलते रहें !
(ऋग्० ५।५१।१५)

अग्निस्वरूप देव ! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में स्थापित कीजिए ।
(यजु० ४।२८)



(६)

आदर्शचिन्तनम्

आदर्श-चिन्तन

सफल जीवन यात्रा के लिए आदर्श-चिन्तन, सदसद्विवेचन में समर्थ बुद्धि, स्वकर्तव्य परिज्ञान, आत्म-विश्वास, आशावाद और साथ ही विश्व को नियन्त्रण में रखने वाली आद्या महाशक्ति के सान्निध्य की भावना की महती आवश्यकता है। इसी सिद्धान्त का विशदीकरण नीचे के पद्यों में किया गया है।

सौभाग्यमेतदतुलं मम येन लब्धं
मानुष्यकं प्रभुप्रसादललामभूतम्।
याचे तमीशमधुना सदसद्विचारो-
युक्तां धियं सफलताधिगमाय तस्य ॥ १ ॥

मेरा यह अद्वितीय सौभाग्य है जिससे मुझे भगवान् के उत्कृष्ट प्रसाद के रूप में मनुष्यता प्राप्त हुई है। मैं अब उसकी सफलता के लिए ईश्वर से सदसद् के विचार (विवेक) में तत्पर बुद्धि की प्रार्थना करता हूँ।

याचे मुहुर्मुहुरहं तमजं परेशं
सत्ये दृढामथ विवेकरतां सुबुद्धिम्।
मार्गे चातिविषमे निजजीवनस्य
कर्तव्यपालनपरः कुशली व्रजेयम् ॥ २ ॥

उस अनादि परमेश्वर से मैं बार-बार सत्य में दृढ़ और विवेकयुक्त सद्-बुद्धि की याचना करता हूँ, जिसकी सहायता से मैं कर्तव्यों का पालन करते हुए इस जीवन के अत्यन्त कठिन मार्ग पर सकुशल यात्रा कर सकूँ!

जन्माप्य लोक इह बुद्धिमता जनेन
मार्गः स एव सुतरामवलम्बनीयः।
कर्तव्यपालनपुरःसरमेव येन
कल्याणमेष लभतेऽत्र परत्र चापि ॥ ३ ॥

इस लोक में जन्म पाकर बुद्धिमान् मनुष्य को दृढ़ता से उसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए जिससे उसे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण की प्राप्ति हो।

रे रे मनो ! विसृज दैन्यमिदं दुरन्त
नैराश्यमाहुरिह सर्वविनाशहेतुम्।
आशावतां धृतिमतां मत एष लोको
विश्वासमात्मनि च ये नियतं भजन्ते ॥ ४ ॥

अयि मन ! इस दुःखदायिनी दीनता को छोड़ दे। निराशा-वाद की भावना सर्व विनाश का कारण होती है। यह लोक उन्हीं के लिए है जो आशावादी तथा धृति वाले हैं और जिनको निश्चय रूप से अपने में विश्वास है।

रक्षां चकार जननीजठरे स्थितस्य
स्तन्यं य एव तदनु स्तनयोः ससर्ज।
संवर्ध्य मां बहुविधैरितरैः प्रकारै-
र्देवेन तेन न हि सम्प्रति विस्मृतोऽहम् ॥ ५ ॥

माता के गर्भ में रहते हुए जिन्होंने मेरी रक्षा की थी,
तत्पश्चात् माता के स्तनों में जिन्होंने दुग्ध उत्पन्न कर दिया था,
अन्य अनेक प्रकारों से भी मेरा संवर्धन करके,
उन विश्वम्भर भगवान् ने अब मुझे भुला नहीं दिया है।

चारित्र्य-संपत्तिः

चारित्र्य-संपत्ति

(७)

चारित्र्यमात्मनः स्वास्थ्यम्

चारित्र्य और आत्मा का स्वास्थ्य

जीवन में चारित्र्य ही मनुष्य का सर्वस्व है । प्रत्येक मनुष्य की मुख्य पूँजी उसका चरित्र होता है । उसी के स्वरूप का कई दृष्टियों से प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है—

सुरम्यं कुसुमं दृष्ट्वा
यथा सर्वः प्रसीदति ।
प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा
तथा त्वं सुखमाप्नुयाः ॥ १ ॥

सुन्दर फूल को देखकर जैसे सब कोई प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही दूसरों को प्रसन्न देखकर तुमको प्रसन्नता होनी चाहिए ।

प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा यस्यान्तर्न प्रसीदति ।
अप्रसन्नांस्तथा दृष्ट्वा यस्यान्तर्न विषीदति ॥ २ ॥
नूनं तस्यात्मनोऽस्वास्थ्यं कारणं तत्र विद्यते ।
अस्वस्थस्य जनस्येह द्राक्षापि विरसायते ॥ ३ ॥

दूसरों को प्रसन्न देखकर जिसका मन प्रसन्न नहीं होता और अप्रसन्न देखकर जिसके मन में पीड़ा नहीं होती, निश्चय ही उसकी आत्मा की अस्वस्थता इसका कारण है । अस्वस्थ मनुष्य को दाख भी स्वाद में बुरी लगती है ।

ततः सदात्मनः स्वास्थ्यकृते यत्नपरो भव ।
तदर्थमात्मनो हीनभावनाया विवर्जनम् ॥ ४ ॥

तथा चैवाभिमानस्य दुरन्तस्यापसारणम् ।
कर्तव्यं प्रथमं तावन्मन्यते तत्त्वदर्शिभिः ॥ ५ ॥

इसलिए आत्मा की स्वस्थता के लिए सदा प्रयत्नशील रहो। इसके लिए तत्त्वदर्शियों के मतानुसार पहला कर्तव्य यह है कि मनुष्य अपनी हीनभावना छोड़ दे और परिणाम में दुःख-दायी अभिमान को भी भगादे।

अभिमानेन मूढत्वमात्मनो हीनभावना ।
आत्मनः स्वास्थ्यनाशस्य द्वयमेवात्र कारणम् ॥ ६ ॥

आत्मा की स्वस्थता का नाश दो ही कारणों से होता है। वे हैं—(१) अभिमान से होने वाला मोह, और (२) अपने को हीन या तुच्छ समझना।

देहस्वास्थ्यकृते लोकाः सप्रयत्ना निरन्तरम् ।
तन्मूलमात्मनः स्वास्थ्यमिति ते नैव जानते ॥ ७ ॥

संसार में मनुष्य शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। पर वे इस बात को नहीं जानते कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल कारण आत्मा की स्वस्थता ही होती है।

विकाराः मानसाः सर्वेऽस्वस्थ आत्मन्यसंशयम् ।
आप्नुवन्ति पदं, तस्मादात्मस्वास्थ्यपरो भवेत् ॥ ८ ॥

यह निश्चय है कि आत्मा के अस्वस्थ होने पर ही मन के समस्त दुर्विचार उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिए मनुष्य को सब से पहले आत्मा की स्वस्थता के लिए ही प्रयत्न-शील होना चाहिए।

चारित्र्यमात्मनः स्वास्थ्यं, जीवनस्य कृतार्थता ।
तत्रैव विद्यते, तस्मात्तदर्थं यत्नमाचरेत् ॥ ९ ॥

आत्मा की स्वस्थता किस को कहते हैं? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य के उदात्त चरित्र को ही आत्मा की स्वस्थता समझना चाहिए। मनुष्य-जीवन की सफलता उसी में रहती है। इसलिए मनुष्य को चरित्र की उदात्तता के लिए प्रयत्न करना चाहिए।



---

१ तु० "पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः" (शतपथब्राह्मण ५।१।१।१)।

२ तु० "नात्मानमवमन्येत" (मनुस्मृति ४।१३७)। "मावमंस्थाः स्वमात्मानम्" (मनुस्मृति ८।८४)।

(८)

चारित्र्यं नरवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम्

चारित्र्य-चर्चा

चारित्र्य के ही महत्त्व को दिखलाने का नीचे के पद्यों में यत्न किया गया है:—

चारित्र्यं परमो धर्मश्चारित्र्यं परमं तपः ।
चारित्र्यस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम् ॥ १ ॥

चारित्र्य परमधर्म है। चारित्र्य परमतप है। चारित्र्य के प्रभाव से ही मनुष्य मोह और जड़ता (= अकर्मण्यता) के दुस्तर अन्धकार को पार कर सकता है।

चारित्र्यं नरवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम् ।
आकर्षणं तथैवात्र लोकानां रञ्जनं महत् ॥ २ ॥

चारित्र्य मनुष्य-रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात्, जैसे किसी फूलने वाले पौधे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय सारांश पुष्प रूप में विकसित होता है, इसी तरह मनुष्य-जीवन का उत्कृष्ट सुन्दर रूप या परम ध्येय उदात्त चरित्र ही है।

सुन्दर सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सब को अपनी ओर आकृष्ट करता है और सब को प्रसन्नता प्रदान करता है।

यथा हि लौकिकाः स्वीयं धनं रक्षन्त्यतन्द्रिताः ।
चारित्र्यस्य तथा रक्षा विधेयोत्कर्षमिच्छता ॥ ३ ॥

इस लिए, जैसे सांसारिक लोग बड़ी सावधानता से अपने धन की रक्षा करते हैं, इसी तरह जो अपना उत्कर्ष चाहता है उसे चारित्र्य की रक्षा करनी चाहिए।



(९)

विमुखा हन्त मानवाः !

चारित्र्य की उपेक्षा

जीवन में चारित्र्य का अत्यन्त महत्त्व होने पर भी मनुष्य उसकी उपेक्षा करते हैं। वास्तव में यह आत्मघात के समान है। इसी बात को नीचे के पद्यों में दिखलाया गया है:—

शरीरमिदमस्थायि जानन्तोऽपि जना ध्रुवम् ।
तत्स्वास्थ्यस्य कृते यत्नान् विविधानाचरन्ति वै ॥ १ ॥
अन्तःशरीरं यत्त्वेतज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ।
स्थास्नु तत्स्वास्थ्यसम्बन्धे विमुखा हन्त ! मानवाः ॥ २ ॥

मनुष्य यह जानते हैं कि यह शरीर सदा रहने वाला नहीं है। तो भी, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए वे तरह-तरह के यत्न किया करते हैं। पर यह खेद की बात है कि यद्यपि मनुष्य का चारित्र्यरूपी अन्तःशरीर जन्म-जन्मान्तर में स्थायी रहने वाला है तो भी उसके स्वास्थ्य की मनुष्य परवा नहीं करते।

उत्पद्यन्ते शरीरेऽस्मिन्निविकारा ये निरन्तरम् ।
प्रायेणोपशमं यान्ति किञ्चित्कालादनन्तरम् ॥ ३ ॥
परमन्तःशरीरेऽस्मिन् चारित्र्याख्येऽतिरोहितम् ।
विकाराः सकृदुत्पन्नाः प्रायस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ ४ ॥

इस शरीर में जो रोगादि विकार बराबर होते रहते हैं, वे कुछ काल के अनन्तर प्रायेण शान्त हो जाते हैं। पर यह कौन नहीं जानता कि इस चारित्र्य रूपी आभ्यन्तर शरीर में जो विकार एक बार उत्पन्न हो जाते हैं वे प्रायः सदा रहते हैं; अर्थात्, उनको हटाना बड़ा कठिन होता है। इसलिए मनुष्य को चरित्र शुद्धता का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए।



(१०)

गृहरूपं मनोऽस्माकम्

भाव-संशुद्धि

भाव संशुद्धि चारित्र्य का मुख्य अंग है। भाव-सशुद्धि की क्यों आवश्यकता है? इसी का उत्तर नीचे के पद्यों में दिया गया है:—

गृहरूप मनोऽस्माकं
स्वच्छं शान्तं भवेद्यथा।
तत्परेण मनुष्येण
प्रयत्नः क्रियतां तथा ॥ १ ॥

हमारा मन एक प्रकार से हमारा घर है। वह हमारा गृह रूपी मन जैसे भी स्वच्छ और शान्त रह सके, उसके लिए हमें तत्पर होकर प्रयत्न करना चाहिए।

सोपद्रवं तथास्वच्छं दुर्गन्धेन समाचितम्।
अभद्रदर्शनं वेश्माध्युषितः कः सुखं व्रजेत् ॥ २ ॥
भावसशुद्धिमेतस्मात्सौमनस्यं तथैव च।
सद्विचारसमृद्धिं च समीहन्ते मनीषिणः ॥ ३ ॥

उपद्रव या कोलाहल से युक्त, अस्वच्छ, दुर्गन्ध से भरे हुए और देखने में अभद्र या भद्दे घर में रह कर कौन सुखी हो सकता है?

इसीसे मनीषी लोग भाव सशुद्धि, सौमनस्य और सद्विचारों की समृद्धि को चाहते हैं।

अभिप्राय यह है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए जैसे शान्त, स्वच्छ और सुन्दर घर की आवश्यकता होती है, उसी तरह आध्यात्मिक शान्ति और प्रसन्नता के लिए भाव संशुद्धि आदि मानसिक गुणों की आवश्यकता है।

स एप परमः स्वार्थो दोषसस्पर्शवर्जितः।
परार्थजीवनस्यापि पात्रता तत्र जायते ॥ ४ ॥

भाव-सशुद्धि आदि उपर्युक्त मानसिक गुणों की प्राप्ति ऐसा उत्कृष्ट 'स्वार्थ' है जिस के साथ दोष का सस्पर्श भी नहीं है। इस 'स्वार्थ'-सिद्धि के हो जाने पर ही

मनुष्य में परार्थ-जीवन की पात्रता आती है। अर्थात्, उक्त उदात्त गुणों से युक्त मनुष्य में ही वास्तव में दूसरों के हित के लिए कार्य करने की योग्यता होती है।

वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयोः।
एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणाः॥ ४॥

वास्तव में मनुष्य के चरित्र की वही स्थिति पवित्र और उत्कृष्ट होती है जिसमें स्वार्थ और परार्थ की एकता या अभिन्नता हो जाती है। विद्वान् लोग उसी अवस्था को 'अद्वैत' की स्थिति कहते हैं।



(११)

सद्विचाराः प्ररोहन्ति शुभसंकल्पवारिणा

सद्विचारों का विकास

सद्विचारों को चारित्र्य का शरीर कहना चाहिए। उनका विकास कैसे हो सकता है इसी बात को नीचे के पद्यों में समझाने का यत्न किया गया है :—

क्षेत्रे विना प्रयत्नेन
वन्यतृणसमुद्भवः।
भूयो भूयः कृषेः पश्चे
महानर्थाय जायते॥ १॥

सब कोई जानते हैं कि प्रत्येक खेत में जंगली घास-पात बिना प्रयत्न के ही बारबार उगती रहती हैं और इससे खेती की बड़ी हानि होती है।

कृषकस्य प्रयत्नेन सावधानस्य नित्यशः।
वारणं क्रियते तेषां कृषे रक्षा च जायते॥ २॥

सावधान किसान बराबर प्रयत्न पूर्वक उस जंगली घास पात को निकालता रहता है और इसी प्रकार खेती की रक्षा की जाती है।

एवं चित्ते स्वभावेन नानादुर्वासनोदयः ।
जायमानो मनुष्यस्य क्लेशसन्ततिकारणम् ॥ ३ ॥

इसी प्रकार मनुष्य के चित्त में स्वभाव से ही अनेकानेक दुर्वासनाएँ पैदा होती रहती हैं और उनके कारण उसको बराबर क्लेशों का अनुभव करना पड़ता है।

केवलं तत्र यत्नेन भूयोभूयः कृतेन वै ।
निरोधः शक्यते कर्तुं तासामुन्मूलनं तथा ॥ ४ ॥[1]

इस स्थिति में केवल बार-बार किये गये यत्न से ही उनका निरोध और उन्मूलन किया जा सकता है।

धीरैरुत्साहसम्पन्नैः श्रद्धाविश्वासधारिभिः ।
कर्तुं तत्पार्यते, नैव संशयाविष्टमानसैः ॥ ५ ॥

यह कार्य (दुर्वासनाओं का निरोध और उन्मूलन) श्रद्धा और विश्वास को धारण करनेवाले उत्साही धीर-वीरों द्वारा ही किया जा सकता है। जिनके मन में संशय बैठा हुआ है वे इस कार्य को नहीं कर सकते।

वासना याः शुभोदर्का
विचारा ये च साधवः ।
कुशलं तत्र रोहन्ति
स्वच्छे चित्ते न संशयः ॥ ६ ॥

शुभ परिणाम को उत्पन्न करनेवाली वासनाएँ और अच्छे विचार स्वच्छ चित्त में ही अच्छी तरह पनपते हैं, इसमें कोई संशय नहीं हो सकता।

तस्य देवस्य सवितुः प्रसवानां य ईशिता ।
प्रकाशप्रेरणां लब्ध्वा वस्तुतो जीवनप्रदाम् ॥ ७ ॥
नष्टा ये दुष्टसंस्कारास्तेषां खाद्येन नित्यशः ।
सद्विचाराः प्ररोहन्ति शुभसंकल्पवारिणा ॥ ८ ॥

समस्त उत्पत्तियों के स्वामी उन सवितृ देव से वस्तुतः जीवन को देनेवाली प्रकाश की प्रेरणा को पाकर, जो दुष्ट संस्कार बराबर नष्ट होते जाते हैं उनके खाद्य (= खाद) से, और शुभ संकल्पों के जल से मनुष्य के चित्त में सद्विचार उगते और बढ़ते हैं।

---

१. तु० "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।" (योगसूत्र २।३, १०, ११)

अभिप्राय यह है कि अच्छी खेती के लिए जैसे सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी की आवश्यकता होती है, ऐसे ही मनुष्य के चित्त में सद्विचारों की उत्पत्ति और पुष्टि के लिए भगवान् की प्रेरणा (या कृपा), दुष्ट संस्कारों का नाश और शुभ-संकल्प (क्रमशः सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी के स्थानीय), इनकी आवश्यकता होती है।

उच्छेद्या याश्च संरक्ष्या वासनास्तत्र संस्थिताः ।
तासां विवेकः प्रथमं बुद्धिमद्भिरपेक्ष्यते ॥ ९ ॥

इस कार्य में सबसे पहले चित्त में रहनेवाली उच्छेदनीय (= जिन का उन्मूलन करना है) और संरक्षणीय (= जिन की रक्षा करना अपेक्षित है) वासनाओं में परस्पर विवेक करने की आवश्यकता बुद्धिमानों को होती है।

चित्तभूमौ प्रयत्नेन पोषितैवं निरन्तरम् ।
सद्विचारकृषिः कृष्टिः संस्कृतिर्वा मता बुधैः ॥ १० ॥

इस प्रकार चित्तरूपी भूमि में बराबर प्रयत्न-पूर्वक पोषित की गयी सद्विचारों की कृषि को विद्वान् लोग 'कृष्टि' अथवा 'संस्कृति' समझते हैं।

अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के सद्विचारों की समष्टि को ही 'संस्कृति' अथवा 'कृष्टि' इन शब्दों द्वारा कहा जाता है।

अक्षय्यममृतं पुण्यं दिव्यानन्देन संयुतम् ।
तत्फलं तेन धनिनस्ते धन्यास्ते मनीषिणः ॥ ११ ॥

उपर्युक्त सद्विचारों की कृषि का फल अक्षय्य, अमृत, पवित्र और दिव्य आनन्द से युक्त होता है। उस फल से जो धनी हैं वे धन्य हैं, वे मनीषी हैं।

अभिप्राय यह है कि लोक प्रसिद्ध कृषि से मनुष्यों को साधारण अन्नादि का लाभ होता है, परन्तु उपर्युक्त सद्विचारों की कृषि से जो फल प्राप्त होता है वह अक्षय्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण अन्नादि से कहीं बढ़-चढ़ कर होता है।

कृपया परयाविष्टो दर्शं दर्शं भवाम्यहम्

मद-मोह से ग्रस्त मनुष्य

मद और मोह चारित्र्य के बाधक हैं। अत एव मद-मोह से ग्रस्त मनुष्यों की दयनीय दशा को नीचे के पद्यों में दिखलाया है:—

आवासस्थानभूता ये प्रायेण मदमोहयोः।
तृणाय मन्यमाना या अन्याननतिवैभवान् ॥ १ ॥
तत्तल्लौकिककार्येषु लिप्तांस्तान् क्षिप्तचेतसः।
उच्चावचपदस्थांश्च नानोपायैर्धनार्थिनः ॥ २ ॥
अवशानवसन्नांश्च विवेकविधुरान्नरान्।
कृपया परयाविष्टो दर्शं दर्शं भवाम्यहम् ॥ ३ ॥

प्रायेण मद और मोह से युक्त होकर
जो वैभव हीन दूसरे लोगों को तृणतुल्य समझते हैं,
उन लौकिक कार्यों में डूबे हुए, व्यग्रचित्त,
अच्छे-बुरे उपायों से धन-संग्रह में संलग्न,
कामनाओं से परवश, अत एव खिन्न,
विवेक हीन, ऊँचे-नीचे पदों पर आसीन लोगों को
देख-देख कर मुझे बड़ी कृपा आती है।

रोगेण महताक्रान्तः पीडया वा प्रपीडितः।
नष्टसंज्ञोऽथवास्वस्थो यथा, तद्वद्धि ते मताः ॥ ४ ॥

बड़े रोग से आक्रान्त, अथवा पीड़ा से पीड़ित, अथवा नष्टचेतन, अथवा अस्वस्थ मनुष्य के समान ही वे मुझे प्रतीत होते हैं।

जीवनेऽस्मिन् महाँल्लाभः स्वान्तस्तोषो निगद्यते

अन्तरात्मा का अविरोध

चारित्र्य के लिए मनुष्य के आचरण और अन्तरात्मा में परस्पर अविरोध की आवश्यकता है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इसी को 'आत्मनस्तुष्टिः'[1] या 'आत्मतुष्टि' कहा है। इसी का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है।

जीवनेऽस्मिन् महाँल्लाभः स्वान्तस्तोषो निगद्यते।
स्वस्यान्तरात्मना सार्धमविरोधे तदिष्यते ॥ १ ॥

इस जीवन में सब से बड़ा लाभ अपनी अन्तरात्मा का संतोष ही है। अन्तरात्मा के साथ मनुष्य के अविरोध से ही यह प्राप्त होता है।

यतस्तत्परमं सत्यं भास्वरं च निरञ्जनम्।
अन्तः सर्वस्य सत्त्वस्य साक्षिरूपेण तिष्ठति ॥ २ ॥[2]

क्योंकि वह प्रकाशमान विशुद्ध परम सत्य प्रत्येक प्राणी के अभ्यन्तर में साक्षिरूप से विराजमान है।

सालोक्यमथ सारूप्यं सायुज्यमथवा पुनः।
अन्तस्तत्त्वेन तेनैव कल्याणेप्सुभिरिष्यताम् ॥ ३ ॥

जो अपना कल्याण चाहते हैं उनको उसी आभ्यन्तर परम तत्त्व के साथ सलोकता, सरूपता अथवा एकीभाव प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

तत्त्वस्यानुभवस्तस्य मानवस्यैव जायते।
ततः सर्वेषु भूतेषु श्रेष्ठं मानुष्यकं मतम्[3] ॥ ४ ॥

अपने अन्दर रहनेवाले उस परम तत्त्व की अनुभूति केवल मनुष्य को ही होती है। इसी लिए मनुष्यता का पद सब प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया है।



---

१. तु० "आत्मनस्तुष्टिरेव च" (मनुस्मृति २।६)।

२. तु० "एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे। नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥" (मनुस्मृति ८।९१)। तथा "मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्।" (मनुस्मृति ८।८४)।

३. तु० "यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः" (अथर्व० ६।५८।३)।

सत्यं जयति सर्वत्र

सत्य की जय

सत्य ही चारित्र्य का आत्मा है। सत्य के बिना चारित्र्य रह ही नहीं सकता। उसी सत्य के स्वरूप का वर्णन निम्नस्थ पद्यों में किया गया है:—

सत्यं जयति सर्वत्र नैवासत्यं कदाचन।

तस्मात्सत्यपरो भूत्वा निर्द्वन्द्वो विचरेन्नरः ॥ १ ॥

सत्य की सर्वत्र जय होती है, असत्य की कभी नहीं। इसलिए मनुष्य को सत्य-परायण होकर निर्द्वन्द्व (= निर्भय अथवा निर्विरोध) भावना से जीवन-यात्रा करनी चाहिए।

सत्ये स्वरूपसंरक्षानपलापौ हि तिष्ठतः।

तत्र स्वात्मविरोधोत्थदौर्मनस्यं न जायते ॥ २ ॥

सत्य में अपने वास्तविक स्वरूप की रक्षा और अनपलाप (= न छिपाना), दोनों रहते हैं। सत्य के रहने पर अपनी अन्तरात्मा के विरोध से उत्पन्न होनेवाली खिन्नता भी नहीं होती।

अतस्तत्रात्मसंतोषो मनःस्वास्थ्यमकृत्रिमम्।

सर्वैरप्यनुभूयेते निर्भयावस्थितिस्तथा ॥ ३ ॥

इसीलिए सत्य की स्थिति में आत्मसंतोष, मन की स्वाभाविक स्वस्थता और निर्भयता की अवस्था को सब अनुभव करते हैं।

सत्याधारेण तिष्ठन्ति मनःस्वास्थ्योद्भवा गुणाः।

मनःप्रसादः सौम्यत्वमार्जवं शान्तिरेव च ॥ ४ ॥

मन की स्वस्थता से उत्पन्न होनेवाले गुण, जैसे मनःप्रसाद, सौम्यता, आर्जव और शान्ति, ये सत्य के आधार पर ही ठहरते हैं।

यथा प्रकाशो लोकानां हितमातनुते सदा।

सत्यशीलास्तथा सन्तः परसन्तापहारिणः ॥ ५ ॥

जैसे प्रकाश से सदा लोकों का हित होता है, इसी तरह सत्य-शील सत्पुरुष दूसरों के सन्तापों को हरनेवाले होते हैं।

सत्यस्य हि प्रतिष्ठायां चारित्र्यं स्थितिमश्नुते

सत्य और चारित्र्य

चारित्र्य की दृष्टि से ही सत्य का वर्णन नीचे के पद्यों में भी किया गया है :—

स्वरूपे संस्थितिः सत्यमसत्ये तद्विरुद्धता ।
मृत्युरूपं ततोऽसत्यं सत्येऽमृतनिधिः स्थितः ॥ १ ॥

अपने स्वरूप में रहना ही सत्य है । असत्य में यह बात नहीं होती । इसी लिए असत्य मृत्यु के समान है और सत्य में अमृत की निधि रहती है ।[1]

सत्येन हि सहायेन तवो देवा निरन्तरम् ।
ऋतज्ञा अमृता विश्वभारं बिभ्रत्यतन्द्रिताः ॥ २ ॥

इस लिए सत्य की सहायता से ही अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवतागण ऋतज्ञ (=प्रकृति के अटल नियमों के अनुवर्ती) और अमृत[2] (=अमरणशील) कहे जाते हैं और अतन्द्रित होकर (=तत्परता से) निरन्तर विश्व के भार को वहन करते हैं ।

सत्यरक्षाकृते तस्मात् सन्तः प्राणपणैरपि ।
तत्परा नियतं लोके दृश्यन्ते देवसन्निभाः ॥ ३ ॥

इसीलिए संसार में देवताओं के साथ समानता रखने वाले सत्पुरुष भी प्राणपण से सत्य की रक्षा में सदा तत्पर दिखायी देते हैं ।

सत्यस्य हि प्रतिष्ठायां चारित्र्यं स्थितिमश्नुते ।
सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते ॥ ४ ॥

सत्य के रहने पर ही चारित्र्य की स्थिति हो सकती है । सत्य के न रहनेपर सब धर्म नष्ट हो जाते हैं ।

सत्याश्रयेण लोकस्य व्यवहारः प्रसिध्यति ।
सत्ये सत्येव विश्वासो व्यवहारस्तदुद्भवः ॥ ५ ॥

सत्य के सहारे पर ही लोक का व्यवहार चलता है । क्योंकि लोक-व्यवहार के लिए परस्पर विश्वास की आवश्यकता होती है और विश्वास सत्य के रहने पर ही हो सकता है ।

---

१. इसीलिए "असतो मा सद्गमय" और "मृत्योर्मामृतं गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) ये दोनों श्रुतियाँ वास्तव में समानार्थक हैं ।

२. तु० "देवा'''अमृता ऋतज्ञा." (ऋग्० १०।६४।१४) ।

यथाऽभावस्य भावेन विरोधः शाश्वतो मतः ।
प्रकाशसंनिधाने हि तमः सद्यो निलीयते ।। ६ ।।
यथा मनःप्रसादेन शोकोद्वेगौ विनश्यतः ।
तथासत्यस्य सत्येन सहभावो न सिद्ध्यति ।। ७ ।।

जैसे अभाव का भाव के साथ शाश्वत विरोध है,
जैसे प्रकाश के होते ही अन्धकार तत्काल हट जाता है,
जैसे मनःप्रसाद से शोक और उद्वेग नष्ट हो जाते हैं,
ऐसे ही सत्य और असत्य एक साथ नहीं रह सकते हैं।

H3278

शरीर-स्वास्थ्यम्

इन्द्रिय-संयमश्च

शारीरिक स्वास्थ्य तथा इन्द्रिय-संयम

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।
.......यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ।।
(यजु० ३।१७)

अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।।
(अथर्व० १९।६०।१-२)

मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना काम कर सकें। मेरे बाल काले

रहें। दाँतों में कोई रोग न हो। बाहुओं में बहुत बल हो। मेरी ऊरुओं में ओज जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो।

अश्मा भवतु नस्तनूः ।

(यजु० २६।४९)

हमारी प्रार्थना है कि हमारे शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हों।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि ।

(ऋग्० १०।३७।६)

हम कल्याण मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों।

अहं सर्वमायुर्जीव्यासम् ।

(अथर्व० १९।७०।१)

मैं अपने जीवन में पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।

शृणुयाम शरदः शतम् । प्रब्रवाम शरदः शतम् ।

अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ॥

वह देखो ! इन्द्रियों के स्वास्थ्य के निर्वाहक, सबके चक्षुःस्थानीय प्रकाशमय सूर्य भगवान् सामने उदित हो रहे हैं। उनसे स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल सकें, सौ वर्ष तक किसी के आश्रित न हों और सौ वर्ष के अनन्तर भी।

ऊपर दिये हुए वचनों से स्पष्ट है कि हमारे वैदिक वाङ्मय में शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के प्रति कितनी गम्भीर आस्था है। वास्तव में लौकिक या पारमार्थिक किसी भी दृष्टि से जीवन में शारीरिक स्वास्थ्य का अनिवार्य महत्त्व है। जीवन की सफलता, चारित्र्य की दृढ़ता, उदात्त आदर्शों की भावना, इन सबका शारीरिक स्वास्थ्य मूलाधार है। शारीरिक स्वास्थ्य का घनिष्ठ संबन्ध इन्द्रिय संयम से है। नीचे की संख्या १६ से २२ तक की रचनाओं का संबन्ध इन्हीं दोनों विषयों से है:—

स्वस्थोऽहं नात्र संशयः

स्वास्थ्य का मन्त्र

मनुष्य के जीवन में शुभ संकल्पों और भावनाओं का बड़ा भारी स्थान है। हमारी शक्ति का स्रोत उन्हीं में निहित रहता है। निम्नस्थ दोनों पद्यों को इसी आशय से हम मन्त्र कह सकते हैं। दोनों की रचना अन्तःप्रेरणा से ऐसे समय हुई थी जब हम स्वयं एक भयानक रोग से आक्रान्त थे और डाक्टरों की चिकित्सा से भी कोई लाभ नहीं हो रहा था। हमारा विश्वास है कि उस समय हमारे पूर्णतया स्वास्थ्य-लाभ में निम्नस्थ विचारों ने आश्चर्यजनक सहायता की थीः—

(ओम्) स्वस्थोऽहं सर्वथा स्वस्थः
स्वस्थो नैवात्र संशयः।
स्वस्थः सदा भविष्यामि
सत्यमेतद् व्रतं मम ॥ १ ॥
(ओम्) सूर्येण वायुना चैव देवैरन्यैश्च सर्वदा।
रक्षितः सखिभावेन स्वस्थोऽहं नात्र संशयः ॥२॥

मैं स्वस्थ हूँ, सर्वथा स्वस्थ हूँ।
मेरे स्वस्थ होने में संशय के लिए कोई स्थान नहीं है।
'मैं सदा स्वस्थ रहूँगा'
यह मेरा सच्चा व्रत है ॥
सूर्य, वायु तथा अन्य देवतागण भी
सदा सखा रूप में मेरी रक्षा करते हैं।
इसलिए मैं स्वस्थ हूँ,
इसमें कोई संशय नहीं है ॥

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्" (ऋग्० १।२३।१९), अर्थात्, जलों में अमृत का वास है, वे औषध-स्वरूप हैं। 'सविता···अपामीवां बाधते' (ऋग्० १।३५।९), अर्थात्, सूर्य बीमारी को भगाता है। इत्यादि वेदमन्त्रों से स्पष्ट है कि सूर्य आदि दैवी शक्तियाँ हमें स्वास्थ्य का प्रसाद देने के लिए सदैव सन्नद्ध रहती हैं।



(१७)

न शरीरकृते वयम्

हम शरीर के लिए नहीं हैं

स्वास्थ्य के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

ब्रह्मचर्यं महान् धर्मो ब्रह्मचर्यं परं तपः ।
ब्रह्मचर्यप्रसादेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ १ ॥
शरीरमिदमस्मभ्यं न शरीरकृते वयम् ।
तदेतत्तत्त्वतो ज्ञात्वा नरः कल्याणमश्नुते ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य महान् धर्म है । ब्रह्मचर्य परम तप है ।
ब्रह्मचर्य के प्रसाद से मनुष्य दुस्तर मोहान्धकार को तर जाता है ।
यह शरीर हमारे लिए है, हम शरीर के लिए
नहीं हैं—
इसको ठीक ठीक समझ लेने से मनुष्य कल्याण को पाता है ।



(१८)

अतिक्रामन्नहो मोहादायुर्मर्माणि कृन्तति

स्वास्थ्य के नियम

यात्रायां जीवनस्यास्य शरीरं रथमुच्यते ।
इन्द्रियाणि हयानाहू रथस्यास्य मनीषिणः ॥ १ ॥
स्वस्थेनातः शरीरेण संयतैरिन्द्रियैर्व्रजन् ।
लक्ष्यं यज्जीवनस्यात्र सुखं प्राप्नोति मानवः ॥ २ ॥

इस जीवन की यात्रा में मनीषी लोग शरीर को रथ और इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं । इसलिए स्वस्थ शरीर तथा संयत इन्द्रियों से जीवन-यात्रा करता हुआ मनुष्य सुख-पूर्वक अपने जीवन के लक्ष्य को पा सकता है ।

तत्राहारविहारेषु तथा स्वप्नावबोधयोः ।
व्यापारेषु तथान्येषु युक्तबुद्धिरपेक्ष्यते ॥ ३ ॥

उस के लिए आहार-विहार में, सोने-जागने में तथा अन्य कामों में भी युक्त बुद्धि की अपेक्षा होती है।

याथातथ्येन संपन्नं सर्वं कार्यं प्रशस्यते ।
चर्यायां जीवनेऽप्यस्माद् याथातथ्यमपेक्ष्यते ॥ ४ ॥
गीतायामेष एवार्थो युक्तशब्देन कथ्यते ।[1]
युक्ततैवोच्यते योगो योगः कर्मसु कौशलम्[2] ॥ ५ ॥

याथातथ्य या औचित्य से जो कार्य किया जाता है वह प्रशंसनीय होता है। इसलिए जीवन-चर्या में भी याथातथ्य की अपेक्षा है। भगवद्गीता में इसी भाव को 'युक्त' शब्द से कहा गया है। युक्तता अथवा औचित्य को ही योग कहा जाता है। क्योंकि, काम करने में कुशलता का ही नाम 'योग' है।

जानन्नप्यतिमूढोऽयं स्वास्थ्यस्य नियमानिमान् ।
अतिक्रामन्नहो मोहादायुर्मर्माणि कृन्तति ॥ ६ ॥

स्वास्थ्य के इन नियमों को जानता हुआ भी अतिमूढ मनुष्य इनका उल्लङ्घन करता है और इस प्रकार यह आश्चर्य की बात है कि स्वयं अपनी आयु के मर्म-स्थलों को काटता है।



१. तु० "युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥" (भगवद्गीता ६।१७)।

२. तु० "योगः कर्मसु कौशलम्" (भगवद्गीता २।५०)।

(१९)

शारीरं स्वास्थ्यमाश्रित्य सर्वमन्यत्प्रवर्तते

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए यत्न

शारीरं स्वास्थ्यमाश्रित्य सर्वमन्यत्प्रवर्त्तते ।
ततः स्वास्थ्यस्य यत्नेन परिरक्षा विधीयताम् ॥ १ ॥
चारित्र्यं ब्रह्मचर्यं च संयमः श्रम एव च ।
साधनं प्रथमं तस्य पौष्टिकाहार एव च ॥ २ ॥

जीवन में सब कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। इसलिए यत्न से स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए। स्वास्थ्य रक्षा के मुख्य साधन हैं:—चारित्र्य, ब्रह्मचर्य, संयत जीवन, श्रम और पौष्टिक भोजन।



(२०)

यथोच्चैर्गगने गच्छन्

इन्द्रिय-संयम

यथोच्चैर्गगने गच्छन् पक्षी दृश्यैरनेकशः ।
अनाकृष्टः प्रयात्येव स्वाभीष्टं स्थानमग्रतः ॥ १ ॥
तथैव जीवने दृश्यैर्नैकैरादर्शमात्मनः ।
अविस्मरन् निरातङ्को विचरेद्विजितेन्द्रियः ॥ २ ॥

जैसे गगन में ऊँचाई पर उड़ता हुआ पक्षी,
विभिन्न प्रकार के दृश्यों से आकृष्ट न होकर,
अपने अभीष्ट स्थान की ओर
आगे बढ़ता ही जाता है;
इसी प्रकार मनुष्य को, विभिन्न दृश्यों के कारण
अपने आदर्श को न भुलाते हुए
और इन्द्रियों को वश में रखते हुए,
निस्सन्दिग्ध भाव से जीवन-यात्रा करनी चाहिए

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्

इन्द्रियों में प्रसक्ति

नूनं दृश्यस्य कस्यापि केनचित्परमार्थतः ।
कर्तुं न शक्यते सद्यः स्वरूपस्यावधारणम् ॥ १ ॥

किसी भी दृश्य के वास्तविक स्वरूप का अवधारण कोई भी तत्काल नहीं कर सकता।

हर्म्यमेकं गत. साय रात्रौ वा तत्र संस्थितः ।
वस्तुतस्तन्न जानीते दिवा यावन्न पश्यति ॥ २ ॥

किसी बडे मकान में सायकाल के समय पहुँच कर या रात्रि में वहाँ ठहर कर भी कोई उसके वास्तविक स्वरूप को तब तक नही समझ पाता है जब तक कि उसको दिन में नहीं देख लेता ।

सगते मनुजे सद्यो वस्त्रभूषाविभूषिते ।
मनोज्ञे मधुरालापे विश्वासं तनुतेऽत्र क॰ ? ॥ ३ ॥

अच्छे वस्त्रों और आभूषणों से विभूषित, सुन्दर और मधुर-भाषी मनुष्य से मिलते ही तत्काल उसका विश्वास कौन कर लेता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

इन्द्रियाणां ततः साक्ष्य सत्य नैकान्ततो मतम् ।
परीक्षायास्ततः श्रैष्ठ्य गीयते तत्त्ववेदिभि. ॥ ४ ॥

इसीलिए इन्द्रियों का साक्ष्य एकान्तत सत्य नहीं माना जाता है । इसीलिए तत्त्ववेत्ता लोग परीक्षा की श्रेष्ठता का गान करते हैं ।

अत एवाभियुक्ताना मतमेतन्मनीषिणाम् ।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसशयम् ॥ ५ ॥

इसीलिए विचारशील मनीषियों का यह मत है कि इन्द्रियों में प्रसक्ति से मनुष्य निस्सन्देह दोष को प्राप्त होता है ।

'द्विषन्ति देवाः प्रत्यक्षं परोक्षमियतां गताः' ।[1]
सिद्धान्त. श्रुतिवाक्येषु श्रूयते यत्र तत्र वै ॥ ६ ॥

'देवता प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं और परोक्ष ही उनको प्रिय होता है' यह सिद्धान्त अनेकत्र श्रुतिवाक्यों में सुनाई देता है ।

---

१ तु॰ "परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विष ।" (गोपथब्राह्मण १।१।१)

तत आपाततो रूपं दृष्ट्वा कस्यापि वस्तुनः ।
नावशालदृशं गच्छेद् यावत्तन्नावधारयेत् ॥ ७ ॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी वस्तु के रूप को आपाततः देखकर तब तक उसमें आसक्त या अनुरक्त न हो जाए जबतक उसके स्वरूप को ठीक-ठीक न समझ ले ।



(२२)

विचरेद्विजितेन्द्रियः

जीवन-यात्रा

सुदीर्घस्याध्वनः पारं गन्तुकामोऽत्र जीवने ।
स्वलक्ष्यैकमना नित्यं विचरेद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
स्पर्धायाः शत्रुताया वा रागस्याप्यथ कुत्रचित् ।
प्रसङ्गोऽवसरोऽप्येवमुपयोगो न विद्यते ॥ २ ॥
निरुद्देश्यं निरादर्शं कर्तव्येन विवर्जितम् ।
जीवनं यस्य, कामं स व्यर्थं तद्‌तियापयेत् ॥ ३ ॥

जो मनुष्य इस जीवन के सुदीर्घ मार्ग को सफलतया पार करना चाहता है, उसे इन्द्रियों को वश में रखते हुए सदा एकमात्र अपने लक्ष्य में मन लगाकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना चाहिए ।

इस जीवन यात्रा में किसी विषय के संबन्ध में स्पर्धा अथवा राग अथवा द्वेष का न तो प्रसङ्ग ही है, न अवसर (= अवकाश); और कोई उपयोग भी नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि इस जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना इतना कठिन है कि वास्तव में मनुष्य को किसी के साथ स्पर्धा अथवा राग-द्वेष करने का न तो अवकाश ही मिल सकता है, न उनका कोई प्रसङ्ग उपस्थित होना चाहिए, और न उनसे उसको कोई लाभ ही होता है ।

हाँ, जिसका जीवन उद्देश्य-हीन, आदर्श-हीन और कर्तव्यता की भावना से रहित है, वह भले ही उसको व्यर्थ की बातों में नष्ट करे !



कर्ममार्गः

कर्म का मार्ग

केवल शुष्क ज्ञान या निरीह शुभ संकल्पों से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता। उनकी वास्तविकता की परीक्षा कर्म की कसौटी पर ही हो सकती है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी भी संकट या आपत्ति से न घबड़ाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य बराबर धैर्य और उत्साह से कार्य करता रहे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे की रचनाओं (संख्या २३–२६) में किया गया है:-

(२३)

चतुरस्रेष्टसंसिद्धिः

ज्ञान-पुरस्सर कर्म का महत्त्व

कर्मणा रहितं ज्ञानं पङ्गुना सदृशं भवेत्।
न तेन प्राप्यते किंचित् न च किंचित्प्रसाध्यते ॥ १ ॥

कर्म से रहित ज्ञान एक पङ्गु के समान होता है। उससे न तो कोई वस्तु प्राप्त की जा सकती है; न कोई कार्य सिद्ध किया जा सकता है।

एवं ज्ञानेन हीनं यत् कर्मान्धेन समं स्मृतम्।
मार्गो वा मार्गलक्ष्यं वा नैव तस्य प्रतीयते[1] ॥ २ ॥

इसी तरह ज्ञान से रहित कर्म को एक अन्धे के सदृश समझना चाहिए। उसको मार्ग अथवा मार्ग का लक्ष्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं कर्म कुर्वतः।
तस्मादेवेष्टसंसिद्धिश्चतुरस्रा प्रजायते ॥ ३ ॥

इसीलिए ठीक ठीक इष्ट की प्राप्ति उसी मनुष्य को होती है जो मन वाणी और कर्म से अपने कर्तव्य कर्म को करता है। अर्थात्, ज्ञान पुरस्सर कर्म से ही इष्ट की सिद्धि होती है।



---

१. तु० "ते य एवमेतद्विदु:, ये वैतत्कर्म कुर्वते, मृत्वा पुन: संभवन्ति। ते संभवन्त एवामृतत्वमभिसंभवन्ति। अथ य एवन्न विदुर्ये वैतत्कर्म न कुर्वते, मृत्वा पुन: संभवन्ति। त एतस्यैवान्नं पुन: पुनर्भवन्ति।" (शतपथब्राह्मण १०।४।३।१०)

(२४)

प्रायेण कल्पनालोके विचरन्तीह मानवाः

वर्तमान की उपेक्षा

वस्तुतो वर्तमानं यज्जगत्तत्परिहाय हा ! ।
प्रायेण कल्पनालोके विचरन्तीह मानवाः ॥ १ ॥

यह खेद का विषय है कि मनुष्य वस्तुतः वर्तमान या उपस्थित कर्तव्य के जगत् को छोड़कर प्रायेण कल्पना के लोक में ही घूमा करते हैं।

उपस्थितं परित्यज्यानुसरन्तोऽनुपस्थितम् ।
मन्दप्रज्ञा हि वर्तन्ते बुधस्तान्नाभिनन्दयेत् ॥ २ ॥

मन्दबुद्धि लोग ही उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित के पीछे दौड़ा करते हैं। समझदार मनुष्य को चाहिए कि उन लोगों को बढ़ावा न दे।

वर्तमानं समालम्ब्य वर्तते यदनागतम् ।
उपेक्षा वर्तमानस्य तस्मान्नैवोपयुज्यते ॥ ३ ॥

भविष्य का आधार वर्तमान ही होता है। इस लिए वर्तमान की उपेक्षा करना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है।

---

(२५)

धैर्यमालम्बनं श्रेष्ठम्

धैर्य का आलम्बन

आशङ्काकुलितैः कष्टं विना प्रायेण कारणम् ।
सह्यते, तत्स्थले तस्माद् विद्वान् धैर्यं समाश्रयेत् ॥ १ ॥
धैर्यमालम्बनं श्रेष्ठम्, धैर्यमालम्बनं परम् ।
धैर्येण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २ ॥

आशङ्का मात्र से व्याकुल होने वाले लोग प्रायः बिना कारण के ही कष्ट को सहा करते हैं। इसलिए आशङ्का के अवसर पर विद्वान् को धैर्य से काम लेना चाहिए।

धैर्य सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है। धैर्य परम आलम्बन है। धैर्य की सहायता से मनुष्य घोर अन्धकार को पार करता है।

धीरा धैर्यधुरन्धराः

दुःखागम से कल्याण

पङ्कादुत्पद्यते पद्म-
महो राज्याः प्रजायते ।
ग्रीष्मादनन्तरं वर्षा
विद्युन्मेघात्प्रजायते ॥ १ ॥

शुक्लपक्षसमारम्भः कृष्णपक्षादनन्तरम् ।
कण्टकाचितवृक्षेभ्यो मनोज्ञकुसुमोद्गमः ॥ २ ॥

दास्यात्स्वतन्त्रताप्राप्तिः स्वास्थ्यं रोगादनन्तरम् ।
दारिद्र्यं संपदो भूमिस्तपसः सिद्धिरेव च ॥ ३ ॥

कन्यागर्भात्समुत्पत्तिर्व्यासादीनां महात्मनाम् ।
शूद्रेभ्योऽपि सतां जन्म ज्ञानमज्ञानिनां तथा ॥ ४ ॥

वृत्तेऽस्मिन् दृश्यमाने तु सृष्टावस्यां समन्ततः ।
कस्यांचिद् दुःस्थितौ नैव नैराश्यमुपयुज्यते ॥ ५ ॥

लोकेशस्य जगद्भर्तुर् विश्वकल्याणकारिणी ।
प्रवृत्तिर्धीमतां शश्वच् छ्रद्धाविश्वासदायिनी ॥ ६ ॥

सर्वापि दुःस्थितिस्तस्मात् सुस्थितेरेव कारणम् ।
एवं दुःखागमो नूनं कल्याणायैव जायते ॥ ७ ॥

सिद्धान्तमिममाश्रित्य धीरा धैर्यधुरंधराः ।
निरातङ्काः समुन्नत्यै प्रयतन्ते निरन्तरम् ॥ ८ ॥

1. पङ्क से पद्म उत्पन्न होता है,
रात्रि से दिन का जन्म होता है,
ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा आती है,
विद्युत् मेघ से जन्म लेती है ।

२. शुक्लपक्ष का प्रारम्भ कृष्णपक्ष के अनन्तर होता है,
कॉंटों से व्याप्त पौधों से सुन्दर पुष्पों का उद्गम होता है।

३ दास्य से स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है,
रोग के पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ होता है,
जहाँ दारिद्रय है वहीं सम्पत्ति आती है,
कष्टमय तप से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

४. कन्या के गर्भ से व्यासादि महात्माओं का जन्म होता है,
शूद्रों से भी सन्तों का जन्म होता है,
अज्ञानियों को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

५ इस सृष्टि में जब सब ओर यह बात दिखाई दे रही है,
तब किसी भी दुरवस्था में निराश होना उपयुक्त नहीं है।

६ जगत् का पोषण करने वाले, लोकों के स्वामी भगवान् की
विश्व का कल्याण करने वाली प्रवृत्ति
बुद्धिमानों में सदा श्रद्धा और विश्वास को उत्पन्न करती है।

७ इसलिए 'सारी दुरवस्था अच्छी स्थिति का पूर्वरूप हुआ करती है,
एवं दुःख का आगमन भी कल्याण के लिए ही हुआ करता है।'

८ इसी सिद्धान्त का आश्रय लेकर
धैर्य-धुरन्धर धीर लोग निर्भयता के साथ
सदा उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।



लोकनीतिः

व्यावहारिक नीति

जीवन में आदर्शवाद के साथ-साथ लौकिक वस्तु स्थिति और व्यावहारिक जगत् के परिचय की भी आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से निम्नस्थ रचनाओं (संख्या २७-३२) में संक्षिप्तरूप से आवश्यक लोक-नीति का वर्णन किया गया है:-

(२७)

विद्या समुन्नतिपथं विशदीकरोति

विद्या-वंदना

विद्या समुन्नतिपथं विशदीकरोति
बुद्धिं विचारविषये प्रखरीकरोति ।
कर्तव्यपालनपरां धियमादधाति
विद्या सखा परमबन्धुरथेह लोके ॥ १ ॥

विद्या उन्नति के मार्ग को स्पष्टतया दिखाती है;
विद्या विचारणीय विषयों में बुद्धि को तीक्ष्ण करती है;
विद्या बुद्धि को कर्तव्य-पालन में तत्पर बनाती है;
विद्या इस लोक में सखा और परम-बन्धु के समान है।

रूपं प्रसिद्धं न बुधास्तदाहु-
र्विद्या मता वस्तुत एव रूपम् ।
अपेक्षया रूपवतां हि विज्ञा
मानं लभन्तेऽतितरां जगत्याम् ॥ २ ॥

संसार में जिस को रूप कहा जाता है विद्वान् लोग उस को रूप नहीं मानते। वे तो विद्या को ही वास्तविक रूप समझते हैं। क्योंकि, रूपवानों की अपेक्षा संसार में विद्वान् लोग ही अधिक मान सत्कार को पाते हैं।

धनं धनं नैव मतं बुधानां
विद्यैव वित्तं मतमस्ति तेषाम् ।
चौरो न यां चोरयितुं समर्थो
भूपोऽपहर्तुं न च यां समर्थः ॥ ३ ॥

विद्वान् लोग धन को धन नहीं समझते। उनके मत में तो विद्या ही वास्तव में धन है। क्योंकि विद्या को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा ही उस को छीन सकता है।

विद्या सकाशादपि प्राकृतस्या-
देया सदा स्याद्यदि सा वरिष्ठा ।
स्थानेऽप्यपूते पतितं सुवर्णं
के नाम लोकेऽत्र परित्यजन्ति ? ॥ ४ ॥

उत्तम विद्या को साधारण व्यक्ति से भी ले लेना चाहिए। अपवित्र स्थल में भी पड़े हुए सुवर्ण को संसार में कोई नहीं छोड़ता।

अवाप्य विद्यां विनयेन शून्या
अहंयवो दुर्जनतां व्रजन्ति ।
दुग्धस्य पानेन भुजङ्गमानां
विषस्य वृद्धिर्भुवनप्रसिद्धा ॥ ५ ॥

विनय-भाव से शून्य अभिमानी लोग विद्या को पाकर दुर्जनता को धारण कर लेते हैं। संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि दूध के पीने से सर्पों के विष की वृद्धि होती है।

ईर्ष्यादयो जाग्रति यावदन्त-
रात्मस्वरूपावगमो न यावत् ।
यावन्नरो नापि विवेकशाली
भेदः क मूर्खे विदुषीह तावत् ॥ ६ ॥

जबतक मनुष्य के अन्दर ईर्ष्या लोभ मोह आदिका प्राबल्य है, जबतक उस को आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जबतक मनुष्य विवेक शाली नहीं है, तबतक विद्वान् कहे जाने वाले व्यक्ति में और मूर्ख में कोई भेद नहीं है।

अभ्यासशीलाः सुतरां जना ये
भवन्ति ते मन्दधियोऽपि विज्ञाः ।
केनेह रज्ज्वा हि गमागमाभ्यां
शिलापि घृष्टा भुवने न दृष्टा ? ॥ ७ ॥

विशेषतया अभ्यास शील लोग, मन्द बुद्धि होने पर भी, विद्वान् हो जाते हैं। कुए की मन में लगी हुई शिला भी रस्सी के जाने-आने से घिसजाती है, यह किस ने नहीं देखा है ?



(२८)

सङ्गः सतां शर्मशतानि सूते

सत्सङ्ग-माहात्म्य

सङ्गः सतां शर्मशतानि सूते
सङ्गोऽसतां तद्विपरीतवृत्तिः ।
यस्तेजसां यस्तमसां स्वभावो
भेदस्तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धः ॥ १ ॥

सत्पुरुषों का सङ्ग अनेक कल्याणों को जन्म देता है। असज्जनों का सङ्ग उस से उलटा ही होता है। तेज के स्वभाव और अन्धकार के स्वभाव में जो अन्तर है उसे सब कोई जानते हैं।

सत्सङ्गमे तिष्ठति यन्महत्त्वं
तज्ज्ञायते दुर्जनसङ्गमेन ।
सुखं हि दुःखानुभवेन भाति
दीपप्रकाशोऽपि घनान्धकारे ॥ २ ॥

सत्सङ्ग का जो महत्त्व है वह दुर्जन के सङ्ग से ही जाना जाता है। सुख का स्वरूप दुःख के अनुभव से ही स्पष्ट होता है, एवं घोर अन्धकार में ही दीप प्रकाश का महत्त्व स्पष्ट होता है।

नीचोऽपि सङ्गेन सतां जनानां
महत्त्वमासादयति प्रकामम् ।
समुद्रशुक्तौ गतमम्बुदानां
प्राप्नोति मुक्ताफलतां जलं तत् ॥ ३ ॥

सज्जनों के सङ्ग से नीच मनुष्य भी विशेष महत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह प्रसिद्ध है कि समुद्र की शुक्ति में पड़ा हुआ बादलों का जल मोतियों के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है।

समुज्ज्वलं प्रेम हि सज्जनानां
दिने दिने पोषमुपैति नूनम् ।
स्थिरस्वभावं सुतरामुदारं
ह्रासोन्मुखत्वं भजते न जातु ॥ ४ ॥

सज्जनों का समुज्ज्वल अर्थात् विशुद्ध प्रेम दिन-प्रतिदिन पुष्ट होता जाता है। स्थिर-स्वभाव और स्वार्थ की भावना से रहित होने के कारण यह कभी ह्रासोन्मुख नहीं होता।

आपन्निमग्ना अपि साधुवर्या
हरन्ति दुःखानि सदा परेषाम् ।
आच्छादितोऽहर्पतिरासमन्ता-
दभ्रैस्तमो वारयतीह नूनम् ॥ ५ ॥

विशेषतया साधुस्वभाव वाले सज्जन स्वयं आपत्तियों में पड़े हुए भी सदा दूसरों के दुःखों को दूर करते हैं। सब ओर से बादलों से ढका हुआ भी सूर्य अन्धकार को अवश्य दूर कर देता है।

न दुर्जनानामपकृत्यमन्तः
सतां कदाचित्पदमादधाति ।
पादाहतोऽप्येष तरुर्विशालश्
छायाश्रितानामपहन्ति तापम् ॥ ६ ॥

दुर्जनों का अपकार सत्पुरुषों के हृदय में कभी स्थान नहीं पाता। यह सामने का विशाल वृक्ष, पैरों से ताडित होने पर भी, अपनी छाया में आश्रितों के ताप को दूर कर देता है।

कदर्थितोऽपीह खलेन साधुर्
हितं परेषां नियतं करोति ।
मुहुर्मुहुश्चन्दनमङ्ग ! घृष्टं
मनोरमं सौरभमातनोति ॥ ७ ॥

दुष्ट मनुष्य द्वारा पीडित होने पर भी साधु मनुष्य सदा दूसरों की भलाई करता है। देखिए, बारबार घिसने पर चन्दन मनोज्ञ सुगन्ध को फैलाता है।

द्राक्षेव केचिद्बहिरन्तरा चा-
न्ये नारिकेलेन समं मनोज्ञाः ।
सौवीरतुल्या बहिरेव केचि-
देवं मनुष्यास्त्रिविधा हि लोके ॥ ८ ॥

संसार में मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। कोई तो द्राक्षा (= दाख) के समान बाहर और भीतर से मनोरम होते हैं; कोई नारियल के समान केवल भीतर से मनोरम होते हैं; और कोई पके-मीठे बड़े बेर के समान केवल बाहर से अच्छे होते हैं।

प्राप्ते प्रसङ्गे मनुजस्वरूपं
विज्ञायते, नेतरथा कथंचित् ।
विद्रावणेनैव यथा जगत्या-
माभूषणानां क्रियते परीक्षा ॥ ९ ॥

अवसर के उपस्थित होने पर ही मनुष्य का स्वरूप जाना जाता है; अन्यथा कभी नहीं। जैसे संसार में आग में पिघलाने से ही आभूषणों की परीक्षा की जाती है।

इक्षोः प्रवृत्तेरनुगामिनस्ते
सन्तो महान्तो विचरन्ति लोके ।
प्रपीडितोऽपीक्षुरमन्दमोदं
रसप्रदानेन सदा तनोति ॥ १० ॥

संसार में महान् सत्पुरुष इक्षु के स्वभाव का अनुसरण करने वाले होते हैं। इक्षु पेरे जाने पर भी रस देकर सदा विशेष आनन्द का प्रसार करता है।

१. तु० "सौवीरं बदरं घोण्टा" (अमरकोषे २।४।३७)। तथा "पच्यमानं सुमधुरं सौवीरं बदरं महत्" (भावप्रकाशे)।

पदं वरेण्यं समुशन्ति सन्तोऽ-
सन्तः पुनस्तद्विपरीतभावाः ।
गृध्रः श्मशाने रमते स्वभावाद्
हंसः पुनर्मानसमेव भुङ्क्ते ॥ ११ ॥

सत्पुरुष वरणीय उत्तम पद को चाहा करते हैं । असज्जनों का स्वभाव उनसे विपरीत हुआ करता है । गृध्र स्वभाव से श्मशान में प्रसन्न होता है, पर हंस प्रसन्नता के लिए मानस-सरोवर का ही सेवन करता है ।

वाग्भिः सतां सूनृतशीतलाभिः
क्षुब्धं मनः शान्तिमुपैति नूनम् ।
उत्सिक्तमद्भिः पतनोन्मुखं तद्
वह्नौ पयः स्वस्थितिमेति सद्यः ॥ १२ ॥

सत्पुरुषों के प्रिय-सत्य और शीतल वचनों से क्षुब्ध मन को निश्चय ही शान्ति प्राप्त होती है । वह्नि में गिरने के लिए तैयार दुग्ध, पानी के छिड़कने पर, तत्काल अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है ।

क्षोभं प्रयाता अपि नैव सन्तो
दुष्टामशिष्टां गिरमुद्गृणन्ति ।
दुष्टाः प्रसन्ना अपि शीलयुक्तां
वक्तुं न जातु प्रभवन्ति वाचम् ॥ १३ ॥

सज्जन क्षुब्ध होने पर भी अशिष्ट और दुष्ट वाणी का व्यवहार नहीं करते । दुष्ट लोग प्रसन्नता में भी शीलयुक्त वाणी को कभी नहीं बोल सकते ।



असज्जनः पापनिबद्धबुद्धिः

असज्जनों का स्वभाव

असज्जनः पापनिबद्धबुद्धि-
स्तस्मै न कोपावसरः प्रदेयः ।
क्षेपेण पङ्के विदितं शिलाया
वस्त्राणि नूनं मलिनीभवन्ति ॥ १ ॥

असज्जन की बुद्धि पाप में लगी रहती है। उसको कोप का अवसर न देना चाहिए। यह सब जानते हैं कि कीचड में पत्थर के फेंकने से कपडे मैले हो जाते हैं।

बहूपकारैरुपसेवितोऽपि
कृतज्ञता नैव खलो बिभर्त्ति ।
सुवर्णकुम्भेन पयोनिषेकात्
माधुर्यमाप्नोति न निम्बवृक्षः ॥ २ ॥

अनेक उपकारों से उपकृत होने पर भी दुष्ट मनुष्य कृतज्ञ नहीं होता। सुवर्ण के घडे से पानी सींचने से नीम के वृक्ष में मिठास नहीं आता है।

श्रुत्वैव वाणीरुपदेशयुक्ता
दुष्टा बुधानां सहसा त्यजन्ति ।
मालाकृता सम्रथितं सुपुष्पै-
र्मृद्नन्ति माल्यं कपयो मनोज्ञम् ॥ ३ ॥

दुष्ट लोग विद्वानों के उपदेश भरे वचनों को सुनते ही तत्काल छोड़ देते हैं। माली द्वारा अच्छे फूलों से बनायी हुई सुन्दर माला को बन्दर मसल डालते हैं।

बुधाः खलानां मृदुमञ्जुवाचां
वचः कदाचिन्नहि विश्वसन्ति ।
माधुर्ययुक्ता अपि ता मयूरः
केका वदन्नत्ति भुजङ्गजातम् ॥ ४ ॥

विद्वान् लोग मृदु-मधुर-भाषी दुष्टों के वचन में कभी विश्वास नहीं करते। अत्यन्त मीठी बोली को बोलता हुआ भी मोर सर्पों को खा जाता है।

दुष्टाशयानामसतां प्रसङ्गः
फलं प्रसूते नितरामवद्यम्।
भुजङ्गमानां पतितं मुखान्तः
स्वातेर्जलं याति विषत्वमेव ॥ ५ ॥

दुष्ट अभिप्राय वाले असज्जनों का सङ्ग अत्यन्त निकृष्ट फल को पैदा करता है। सर्पों के मुख के अन्दर गिरा हुआ स्वाति नक्षत्र का जल विष बन जाता है।

दुष्टप्रसङ्गेन सतामपीह
मानस्य हानिर्भवतीति दृष्टम्।
वक्रस्य लोहस्य निषेवणेन
घनस्य घातं सहते कृशानुः ॥ ६ ॥

दुष्ट के सङ्ग से सज्जनों के भी मान की हानि देखी जाती है। टेढे लोहे के सेवन से अग्नि को हथौडे की चोट सहनी पड़ती है।

मलीमसा मत्सरिणः सहन्ते
नैवापरेषां खलु भाग्यवृद्धिम्।
संवीक्ष्य चन्द्रस्य रुचिं रजन्यां
न जातु मोदं भजते हि चौरः ॥ ७ ॥

ईर्ष्यालु स्वभाव के दुष्ट लोग दूसरों की भाग्य-वृद्धि को नहीं सह सकते। रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश को देख कर चोर को कभी प्रसन्नता नहीं होती।

सङ्गं समासाद्य सतां जनानां
न दुर्जनो विस्मरति स्वभावम्।
वृक्षे निवासी खलु चन्दनस्य
विषं न सर्पस्त्यजतीह जातु ॥ ८ ॥

सज्जनों के संग को पाकर दुर्जन अपने स्वभाव को नहीं भूलता है। चन्दन के वृक्ष पर रहने वाला सर्प विष को कभी नहीं छोड़ता।



निरादरस्यास्पदमस्ति याच्ञा

याचना से अपमान

निरादरस्यास्पदमस्ति याच्ञा
स्थानं हि मानो लभते न तत्र ।
विश्वाधिपो वामनरूपधारी
जातो बलेर् याचनतत्परः सन् ॥ १ ॥

याचना में निरादर रहता है । उसमें सम्मान के लिए कोई स्थान नहीं होता । विश्व के स्वामी भगवान् को भी बलि से याचना करते समय वामनरूप को धारण करना पड़ा था ।

श्रेष्ठः कदाचित्कृपणं कदर्यं
न याचते कष्टशताकुलोऽपि ।
किं चातको जातु पिपासयापि
घटं जलं प्रार्थयते विपण्णः ? ॥ २ ॥

श्रेष्ठ मनुष्य सैकड़ों कष्टों से व्याकुल होने पर भी कभी कृपण नीच व्यक्ति से याचना नहीं करता । प्यास से व्याकुल होने पर भी क्या कभी चातक घड़े से जल की प्रार्थना करता है ?

सालेषु बन्धो ननु कुञ्जराणाम्

सामर्थ्य की महिमा

सामर्थ्यभाजां बहवः सहाया

न निर्बलानां भवतीह कश्चित् ।

वह्निं प्रदीप्तं पवनः करोति

दीपं पुनः प्रापयति क्षयं सः ॥ १ ॥

सामर्थ्य वालों के अनेक सहायक होते हैं; निर्बलों का कोई भी नहीं । वायु अग्नि को प्रदीप्त करता है; परन्तु दीपक को बुझा देता है ।

सामर्थ्यभाजां ननु वैरिणोऽपि

भवन्ति नम्रा हितकाङ्क्षिणश्च ।

वयस्यवर्या अपि दुर्बलाना-

मुपेक्षया दूरत एव यान्ति ॥ २ ॥

सामर्थ्य वालों के वैरी भी नम्र और हितैषी हो जाते हैं । अच्छे मित्र भी दुर्बलों की उपेक्षा करके दूर से ही चले जाते हैं ।

वोढुं समर्था महतां महान्तो

भारं गुरुं नैव तु हीनसत्त्वाः ।

सालेषु बन्धो ननु कुञ्जराणा-

मैरण्डवृक्षेषु न जातु दृष्टः ॥ ३ ॥

बड़ों के भारी बोझे को बड़े ही वहन करने में समर्थ होते हैं; दुर्बल नहीं । साल के वृक्षों में हाथियों का बाँधना देखा जाता है; रेंडी के वृक्षों में कभी नहीं ।

क्षुद्रैः समेत्यापि हि सत्त्वभाजां

प्रभूयते नापकृतिं विधातुम् ।

कुर्यात्कदाचिन्नहि जम्बुकानां

हन्तुं यथा केसरिणं समर्थम् ॥ ४ ॥

क्षुद्र लोग इकट्ठे होकर भी सत्त्वशाली लोगों का अपकार करने में समर्थ नहीं होते; जैसे गीदड़ों का समूह भी सिंह के मारने में कभी समर्थ नहीं होता है ।

नीतिमुक्तावलिः

नीति के मोती

उत्कर्षमासादयितुं समर्था
गुणेन युक्ता न तु तद्विहीनाः ।
गुणेन युक्तेन घटेन नूनं
कूपान्मनुष्या जलमाप्नुवन्ति ॥ १ ॥

गुणवान् ही उत्कर्ष के पाने में समर्थ होते हैं; निर्गुण नहीं। 'गुण' (अर्थात् रस्सी) युक्त घड़े से ही मनुष्य कुएँ से जल को प्राप्त करते हैं।

विना श्रमं जातु जनो न कश्चित्
श्रियं समासादयितुं समर्थः ।
अतिप्रयासेन सुरासुरैर्हि
लब्धानि रत्नानि समुद्रमध्यात् ॥ २ ॥

विना श्रम के कोई मनुष्य कभी भी लक्ष्मी को नहीं पा सकता। देवताओं और असुरों ने बड़े परिश्रम से ही समुद्र के मध्य से रत्नों को पाया था।

सुखं परं किं ? निजतन्त्रतैव
दुःखं परं किं ? परतन्त्रतैव ।
वनेषु कीराः सुखिनो भ्रमन्ति
दीनाः पुनः काञ्चनपञ्जरेषु ॥ ३ ॥

बड़ा सुख क्या है ? स्वतन्त्रता ही।
बड़ा दुःख क्या है ? परतन्त्रता ही।
जंगलों में तोते प्रसन्नता से उड़ते फिरते हैं;
पर स्वर्ण के भी पिंजड़ों में दीन दुःखी रहते हैं।

धनं धनं नैव मतं बुधानां
सन्तोष एवास्ति धनं वरीयः ।

सन्तोषहीना अपि वित्तवन्तः
सुखेन निद्रां बत ! नो लभन्ते ॥ ४ ॥

विद्वान् लोग धन को धन नहीं मानते, उनके लिए सन्तोष ही श्रेष्ठ धन है। सन्तोष से हीन धनवान् भी सुख की नींद नहीं सोते हैं।

स्वल्पोऽपि दोषः समुपेक्षितश्चे-
दनर्थसन्तानमसौ प्रसूते ।
वह्नेः कणोऽरण्यपरम्परास्ता
भस्मत्वमापादयितुं समर्थः ॥ ५ ॥

उपेक्षित किया हुआ थोड़ा-सा भी दोष अनर्थ-परम्परा को पैदा कर देता है। वह्नि का कण बड़ी-बड़ी अरण्य-परम्पराओं को भस्म करने में समर्थ होता है।

प्राप्तिर्यदीया सुखमातनोति
तस्यैव दुःखाय भवेद्वियोगः ।
सूर्योदयेन प्रविकासि पद्मं
तस्माद्वियुक्तं लभते प्रमीलाम ॥ ६ ॥

जिसकी प्राप्ति सुख देती है, उसी का वियोग दुःख देने वाला हो जाता है। सूर्य के उदय से खिलने वाला कमल उससे वियुक्त होकर संकुचित हो जाता है।

न भुज्यते नापि वितीर्यते चेद्
अन्ते तदन्येऽपहरन्ति नूनम् ।
एवं च वित्तं कृपणस्य लोके
तथा समानं मधु मक्षिकाणाम् ॥ ७ ॥

यदि उपभोग नहीं किया जाता और दान भी नहीं दिया जाता, तो अन्त में निश्चय ही दूसरे लोग उसका अपहरण कर लेते हैं। इस प्रकार संसार में कृपण का धन और मधु-मक्षिकाओं का मधु दोनों समान हैं।

कार्ये प्रवर्त्तेत फलं समीक्ष्य
व्यथा न जायेत यथानुतापात् ।

तुल्यं तिलैः कः सिकताः प्रपीड्य
तैलं समासादयितुं समर्थः ? ॥ ८ ॥

परिणाम का विचार करके ही कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए, जिससे पश्चात्ताप की व्यथा न होने पाए। तिलों की तरह बालू को कोल्हू में पेल कर कौन तेल को पा सकता है ?

कार्यस्वरूपावगमस्य कालः
कार्यप्रवृत्तेः प्रथमं प्रदिष्टः ।
जाते विवाहे कुलशीलपृच्छां
जामातृपक्षात्कुरुते नु कश्चित् ? ॥ ९ ॥

जो काम करना है उस के स्वरूप को समझने के लिए उसके प्रारम्भ करने से पहले का ही समय ठीक कहा गया है। विवाह हो जाने पर क्या कोई जामाता के पक्ष से उस के कुल और शील के विषय में पूछ ताछ करता है ?

कालानुकूल्येन विधीयमानं
कार्यं हि साफल्यमुपैति नूनम् ।
उप्तेषु बीजेष्वयथर्तवश्यं
धनश्रमौ निष्फलतां प्रयातः ॥ १० ॥

काल की अनुकूलता को देख कर जो कार्य किया जाता है वह अवश्य सफलता को पाता है। प्रतिकूल ऋतु में बीजों के बोने से धन और श्रम दोनों अवश्य व्यर्थ जाते हैं।

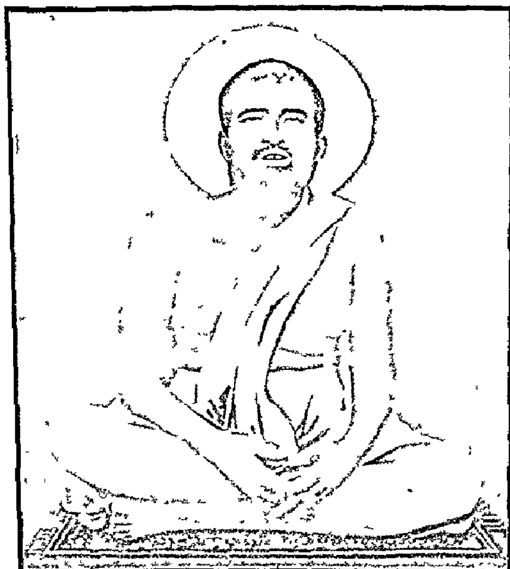
अनागतार्थं प्रसमीक्ष्यकारी
संसिद्धिमासादयितु समर्थः ।
वह्निप्रदीप्ते भवने तु कूपं
खनन् हि मूर्खो लभते न किञ्चित् ॥ ११ ॥

अनागत (आनेवाले) विषय का सम्यक् विचार कर के जो कार्य करता है वही सफलता को पा सकता है। घर में आग के लग जाने पर कुएँ को खोदने वाले मूर्ख जन को कोई फल नहीं मिलता।

उपायगुप्तस्य नरस्य कश्चित्
शत्रुर्न शक्तोऽपकृतं विधातुम् ।
उपानहौ येन धृते न तस्य
तापाय शक्ताः सिकताः प्रतप्ताः ॥ १२ ॥

॥ इत्यमृतमन्थने जीवनपाथेयं नाम द्वितीयः परिस्रवः ॥

जो यथासमय उपाय से अपनी रक्षा कर लेता है, कोई भी शत्रु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिसने जूते पहिन रखे हैं गरम बालू उसके पैरों को नहीं जला सकता।



परमहंस श्रीरामकृष्ण देव

अध्यात्मजगतो भानुरज्ञानतिमिरावृतान् ।
लोकानुद्बोधय योऽसौ देशिकेन्द्रो नमामि तम् ॥

तृतीयः परिस्रवः

प्रज्ञा-प्रसादः

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्
ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳬ होवाच किमेतद् यक्षमिति । सा ब्रह्मेति होवाच·········ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।

(केनोपनिषद् २५-२६)



द्वितीय प्रवाह

प्रज्ञा-प्रसाद

साधक ज्ञान द्वारा प्रज्ञा-प्रसाद को पाकर ही विशुद्ध परमतत्त्व के साक्षात्कार में समर्थ होता है । (मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

इन्द्र (= जीवात्मा) ने यक्ष (= यजनीय देव) के स्वरूप को जानना चाहा । सब ओर से निराश होकर वह अत्यन्त शोभामयी उमा (= विशुद्ध प्रज्ञा) के पास पहुँचा । उसके द्वारा ही इन्द्र ने ब्रह्मरूप में उस 'यक्ष' के स्वरूप को जाना ।

(केनोपनिषद् २५-२६)



प्रज्ञा-प्रसादः

प्रज्ञा-प्रसाद

जीवन क्या है ? क्यों है ? उसका परमलक्ष्य क्या है ? इस महान् प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि—

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतिर्जीवनं मतम् ।[1]

अर्थात्, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति, उत्तरोत्तर समुत्थान ही जीवन है, यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है ।

इस उत्तरोत्तर प्रगति में जीवन को क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक अवस्थाओं में से होकर जाना पड़ता है । वास्तविक आदर्श का अपरिज्ञान, मोह, प्रमाद और आलस्य का ही नाम तामस अवस्था है । लक्ष्य की अस्थिरता, अनिश्चय, अशान्ति, अवसाद और मिथ्या अभिमान का ही नाम राजस अवस्था है । परम-लक्ष्य की स्पष्ट प्रतीति, निश्चय, तत्परता, अध्यवसाय, शान्ति और प्रसन्नता को ही सात्त्विक अवस्था कहते हैं ।

इन अवस्थाओं के क्रमिक विकास का विशेष प्रतिपादन नीचे संख्या ४५ की रचना में किया गया है ।

उक्त सात्त्विक अवस्था के परम उत्कर्ष को ही **'प्रज्ञा-प्रसाद'** समझना चाहिए । **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८), **"जीवा ज्योति-रशीमहि"** (ऋग्० ७।३२।२६) इत्यादि वैदिक प्रार्थनाओं का वास्तव में अभिप्राय उक्त 'प्रज्ञा-प्रसाद' से ही है ।

'प्रज्ञा प्रसाद' के स्वरूप और स्थिति का विभिन्न दृष्टियों से सुन्दर वर्णन शास्त्रों में यत्र-तत्र मिलता है । उदाहरणार्थ, निम्नस्थ प्रमाणों को देखिए :—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्
ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

अर्थात्, साधक ज्ञान द्वारा प्रज्ञा-प्रसाद को पाकर ही विशुद्ध परमतत्त्व के साक्षात्कार में समर्थ होता है ।

---

१. तु० "प्रतार्यायुः प्रतरं नवीय" (ऋग्० १०।५९।१) । "कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे" (ऋग्० १।३६।१४) । 'भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेय ब्राह्मण १।१३) ।

"समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति। न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्ति।"

(योगसूत्र १।४८ पर व्यास-भाष्य)

अर्थात्, विशुद्ध सात्त्विक अवस्था में जिसका चित्त समाहित (=समाधान या समाधि को प्राप्त) हो चुका है उसकी प्रज्ञा को ही ऋतम्भरा कहा जाता है; क्योंकि वह सत्य को ही धारण करती है और उसमें विपर्यास या मोह का गन्ध भी नहीं रहता।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

(भगवद्गीता २।६५)

विशुद्ध और प्रसन्न चित्तवाले मनुष्य की ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

प्रज्ञा-प्रसाद की स्थिति[1] का ही वर्णन हमारी 'रश्मिमाला' पुस्तक में निम्नस्थ शब्दों में किया गया है—

सौम्या मनःस्थितिः

अभिमानेन दम्भेन दर्पेण परिवर्जिता।
शान्ता न मायया स्पृष्टा संयमेन पुरस्कृता ॥ १ ॥
श्रद्धया च विवेकेन सत्यमार्गानुसारिणी।
लोककल्याणबुद्ध्यैव ज्ञानोपार्जनकारिणी ॥ २ ॥
हितबुद्ध्या समस्तानां प्राणिनां या समन्विता।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टचारित्र्यपरिपोषिणी ॥
नैराश्येन विनिर्मुक्ता यासौ सौम्या मनःस्थितिः।
सन्तुष्टा च प्रसन्ना च सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥

(रश्मिमाला ४८)

---

१. इसी स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अन्य पद्यात्मक रचनाओं के लिए 'रश्मिमाला' की अन्तिम तीन रश्मियों को देखिए।

सौम्य मनःस्थिति

अभिमान से, दम्भ से और दर्प से रहित,
शान्त, छल-कपट से अस्पृष्ट और संयम से युक्त,
श्रद्धा और विवेक के साथ सत्यमार्ग का अनुसरण करने वाली,
संसार के कल्याण की बुद्धि से ही ज्ञान का उपार्जन करने वाली,
समस्त प्राणियों के हित की बुद्धि से समन्वित,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चारित्र्य को पुष्ट करने वाली,
नैराश्य से रहित, सन्तुष्ट और प्रसन्न
जो सौम्य मनःस्थिति है—
वही मेरी अक्षय निधि है।

उक्त प्रज्ञा-प्रसाद की पृष्ठभूमि के आधार पर ही 'अमृत मन्थन' के इस तृतीय 'परिप्लव' या प्रवाह की रचना हुई है।

नैराश्य, आदर्शहीनता, लक्ष्यहीनता, रिक्तता, लघुता, अवसाद, अशान्ति और वैषम्य से परिपूर्ण मानव-जीवन में उससे आशा, विश्वास, प्रकाश, पूर्णता, औदार्य, मनः-प्रसाद और स्थिर शान्ति की भावनाओं को पुष्टि और नवीन प्रेरणा प्राप्त होगी, ऐसी हमें आशा है :—

अनन्तमनवच्छिन्नं यत्तत्त्वं तदुपास्महे

मूल-तत्त्व की अनुभूति

इस समस्त विश्व प्रपंच के मूल में अवस्थित परम तत्त्व की अनुभूति का कुछ दिग्दर्शन नीचे के पद्यों में मङ्गलाचरण के रूप में किया गया है—

निर्मलं शाश्वतं शान्तमवाङ्मनसगोचरम् ।
विद्यते यन्महत्तेजस्तन्मे नित्यं प्रकाशताम् ॥ १ ॥

जो निर्मल, शाश्वत, शान्त, मन और वाणी का अगोचर, महान् तेज स्वयम्भू रूप से विद्यमान है, वह मेरे लिए सदा प्रकाशित रहे ।

व्यापि सर्वत्र लोकेषु त्रिषु कालेषु, सर्वथा ।
अन्तर्यामि च यत्तत्त्वं तन्मे नित्यं प्रसीदतात् ॥ २ ॥

जो मूल तत्त्व तीनों लोकों और तीनों कालों में व्याप्त है, जो सारे विश्व का अन्तर्यामी रूप से नियमन कर रहा है, वह सदा मुझ से प्रसन्न रहे ।

निधानं यद्धि शक्तीनां सर्वासामन्ततो मतम् ।
आत्मरूपेण सर्वेषां भाति यत्तदुपास्महे ॥ ३ ॥

अन्ततोगत्वा जो समस्त शक्तियों का एकमात्र निधान है और जो आत्मरूप से सबको प्रतीत हो रहा है, उसी मूलतत्त्व की हम उपासना करते हैं ।

चराचरमभिव्याप्य तदतीत्य च संस्थितम् ।
अनन्तमनवच्छिन्नं यत्तत्त्वं तदुपास्महे ॥ ४ ॥

चराचर जगत् को व्याप्त कर के और उस को भी अतिक्रान्त कर के जो स्थित है उसी अनन्त अनवच्छिन्न परम तत्त्व की हम उपासना करते हैं ।



परमतत्त्वमहं नतोऽस्मि

परम-तत्त्व को नमस्कार

व्याप्य स्थितं त्रिभुवनं परितोऽप्रमेयं
पुण्यं परं परमनिर्वृतिधाम सत्यम् ।
पापापहं त्रिविधतापहरं वरेण्यं
शान्तं शिवं परमतत्त्वमहं नतोऽस्मि ॥ १ ॥

तीनों लोकों में पूर्णतः व्याप्त, अप्रमेय, अत्यन्त पवित्र, परम आनन्द के स्थान, सत्य-स्वरूप, पापों को दूर करनेवाले, वरणीय, शान्त, शिवस्वरूप परम-तत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ।

यस्यास्ति वाङ्मनसयोर्महिमा न गम्यो
लोकानतीत्य निखिलानपि संस्थितं यत् ।
भूत्वा यतो विलयमेति च यत्र विश्वं
तच्छाश्वतं किमपि तत्त्वमहं नतोऽस्मि ॥ २ ॥

जिसकी महिमा का पार वाणी और मन नहीं पा सकते,
जो समस्त लोकों को भी अतिक्रान्त कर के स्थित है,
जिस से उत्पन्न होकर विश्व उसमें ही विलीन होता है,
उस अनिर्वचनीय शाश्वत-तत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ।

यच्छाश्वतं परमतत्त्वमतीन्द्रियं सत्—
लोकत्रयस्य परिचालनमातनोति ।
आनन्दधाम सततं जगतां प्रतिष्ठां
भक्त्या नतोऽस्मि करुणावरुणालयं तत् ॥ ३ ॥

जो शाश्वत परम-तत्त्व अतीन्द्रिय होता हुआ
तीनों लोकों का परिचालन कर रहा है।
सतत आनन्द के स्थान और लोकों के आधार
उस करुणा-सागर को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।



तन्नो शिवं वितनुतां परमं हि धाम

शिवस्वरूप परम धाम

सृष्ट्वा जगन्ति निखिलानि पितामहो यो
विष्णुस्तथैव भुवनानि च पालयित्वा ।
मृत्युञ्जयस्तदुपसंहृतिकारणत्वाद्
योऽसौ स नोऽवतु सदा त्रिगुण समन्तात् ॥ १ ॥

समस्त लोकों की सृष्टि के करने से जो ब्रह्मा है,
लोकों का पालन करने से जो विष्णु है,
उनका संहार करने से जो शिव है,
वह त्रिगुण भगवान् सदा सर्वत हमारी रक्षा करे !

विश्वं यदस्ति सचराचरमेव विष्ट
कालत्रयेऽपि परिणामदशानभिज्ञम् ।
भास्वन्ति येन निखिलानि जगन्त्यमूनि
तन्न: शिवं वितनुतां परमं हि धाम ॥ २ ॥

जो समस्त चराचर जगत् में व्याप्त हो रहा है,
जो तीनों कालों में सदा एक ही रूप में रहता है,
जिससे ये सारे जगत् प्रकाशमान हैं,
वह परम धाम हमारे लिए कल्याण का विस्तार करे !

भानु शशी समुदितो नियमेन, चान्ये
लोका यदीयमनुशासनमाचरन्ति ।
ब्रह्माण्डभाण्डरचनाकुशलैककर्तृ
पायात्स नोऽनवरतं दुरितादजस्रात् ॥ ३ ॥

जिनके अनुशासन में सूर्य और चन्द्रमा नियम से उदित होते हैं और अन्य लोक भी जिनके अनुशासन का अनुसरण करते हैं, ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड (= पात्र) की रचना में एकमात्र कुशल वे सर्वलोककर्ता सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कुत्सित पाप से सदा हमारी रक्षा करें !

सृष्ट्वा जगन्निखिलमेव निवासगेहं
यो निर्ममेऽम्बरमदः पटलेन तुल्यम् ।
तत्रापि सूर्यमथ चन्द्रमसं च दीप्त्यै
शश्वच्छिवं वितनुतां स जगन्निवासः ॥ ४ ॥

जिन्होंने समस्त जगत् को एक निवास-गृह के रूप में निर्माण करके पाटन के सदृश उस उच्च गगन को बनाया और उसमें प्रकाश के लिए सूर्य और चन्द्रमा का निर्माण किया वे जगन्निवास परमात्मा हमारे लिए सदा कल्याण का विस्तार करें।

तत्त्वं यदेतदतिशुद्धमचिन्त्यरूपं
शान्तं शिवं सकलविश्वविकासकेन्द्रम् ।
यन्नेति नेति श्रुतिसारवचोभिरेवं
व्याख्यायते किमपि, तत्समुपाश्रयेऽहम् ॥ ५ ॥

जो अत्यन्त शुद्ध, अचिन्त्यरूप, शान्त, शिवस्वरूप और सकल विश्व के विकास का केन्द्र है, जिसको वेद के विशिष्ट वचन 'नेतिनेति' (= यह भी नहीं) कहकर व्याख्या करते हैं, उस अनिर्वचनीय परम-तत्त्व का मैं आश्रय लेता हूँ।

---

(३६)

नूनं मरुं हितधिया समुपाश्रयन्ते

पूर्ण पुराण-पुरुष

सेवस्व भोः सततमार्तिहरं समन्तात्
पूर्णं पुराणपुरुषं परिपूर्णतायै ।
सर्वस्य कारणमखण्डमनन्तरूप-
मानन्दधाम करुणावरुणालयं तम् ॥ १ ॥

अयि मनुष्य! परिपूर्णता के लिए तू सदा कष्टों को आमूल हरने वाले उस पूर्ण पुराण-पुरुष का सेवन कर, जो सब का कारण, अखण्ड, अनन्तरूप, आनन्द धाम और करुणा का समुद्र है।

भो मानवा ! भजत तत्परमं पवित्रं
सर्वस्य कारणमघौघविनाशहेतुम् ।
ज्ञात्वा यदेव मुनयो विततं समन्ताद्
आनन्दधाम सततं मुदमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

अयि मनुष्यो ! तुम उस परमपवित्र, सब के कारण और पापों के समूह को नाश करने वाले परमेश्वर का सेवन करो, जो सर्वत्र व्यापक और आनन्दमय है और केवल जिसको जानकर मुनिजन सदा आनन्द का अनुभव करते हैं ।

कारुण्यवारिधिममुं जगतामधीशं
त्यक्त्वापरं कमपि देवमुपासते ये ।
नूनं हि ते नदनदीपरिपूर्णदेशं
हित्वा मरुं हितधिया समुपाश्रयन्ते ॥ ३ ॥

करुणा के सागर और लोकों के स्वामी उस ईश्वर को छोड़कर जो किसी अन्य देवता की उपासना करते हैं वे मानों नदों और नदियों से परिपूर्ण देश को छोड़कर हित-बुद्धि से मरुस्थल का सेवन करते हैं ।

आनन्दहेतुमजरं जगतां प्रतिष्ठां
देवाधिदेवमयि मूढ ! विहाय कस्मात् ?
अन्यं प्रयासि शरणं, किमु याचमानो
दारिद्र्यगर्तपतितं लभते स्वमर्थम् ? ॥ ४ ॥

अयि मूढ ! आनन्द के हेतु, अजर, लोकों के आश्रय, देवाधिदेव परमेश्वर को छोड़ कर, तू अन्य की शरण में क्यों जाता है ? दरिद्रता के गर्त में पड़े हुए व्यक्ति से याचना करने वाला क्या कभी अपने अभीष्ट अर्थ को पा सकता है ?



स्रोतः सुखस्य सलिलेन परिप्लुतं तत्

मनुष्य का महान् मोह

प्राप्तुं सुखं हि मनुजा जगति भ्रमन्तः
क्लेशान् बहूननुभवन्ति न चाप्नुवन्ति ।
स्रोतः सुखस्य सलिलेन परिप्लुतं यत्
स्वान्तस्तले प्रवहतीति न जानते ते ॥ १ ॥

सुख पाने के लिए मनुष्य संसार में घूमते हुए अनेक क्लेशों को सहते हैं, पर सुख को नहीं पाते। वे यह नहीं जानते कि सुख-रूपी जल से लबालब भरा हुआ स्रोत स्वयं उनके अन्दर बह रहा है।

मूढ ! त्वया मम मनः ! किमिदं व्यधायि
हा हन्त ! यत्परमनिर्वृतिधाम सत्यम् ।
त्यक्त्वासि भोः ! पतितमिन्द्रियतृप्तिहेतौ
पर्यन्ततापिविषये, शलभो यथाग्नौ ॥ २ ॥

अयि मूढ ! मेरे मन ! हा तूने यह क्या किया कि तू, परमशान्ति के धाम सत्य को छोड़कर, केवल इन्द्रियों की तृप्ति करने वाले और अन्त में दुःखदायी विषयों में, अग्नि में पतंगे के नाईं, गिर पड़ा !



आत्मतत्त्वविवेचनम्

आत्मतत्त्व का विवेचन

हमारे वास्तविक उत्थान का मूल आत्म परीक्षण में निहित है। इसीलिए, हमारा अपना वास्तविक स्वरूप क्या है? इसी प्रश्न का उत्तर नीचे की ३८ से ४४ तक की रचनाओं में दिया गया है:—

(३८)

सर्वदानन्दरूपं तदात्मतत्त्वं विवेकिनाम्

अपना स्वरूप

आत्म-तत्त्व के स्वरूप के विषय में विवेकी और अविवेकी मनुष्यों की दृष्टियों का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

शक्तेर्धाम स्वयंज्योतिः कूटस्थं सर्वसाक्षि च।
सर्वदानन्दरूपं तद् आत्मतत्त्वं विवेकिनाम्॥ १॥

जो विवेकी हैं उनके लिए वह आत्म-तत्त्व शक्ति का धाम, स्वयं प्रकाशमान, सर्वदा एकरूप में रहने वाला, सब का साक्षी और सदा आनन्द-स्वरूप है।

संमूढं सर्वदा मग्नं समुद्वेगविषादयोः।
अस्थिरं स्थितिवात्याभिस्तत्त्वं तदविवेकिनाम्॥ २॥

पर जो अविवेकी हैं उनके लिए वही आत्म-तत्त्व मोह में पड़ा हुआ, सदा उद्वेग और विषाद में डूबा हुआ और परिवर्तनशील परिस्थितियों की आँधियों से अस्थिर अथवा चंचल रहता है।



ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरात्मतत्त्वं मनीषिणाम्

प्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व

आत्मनो यस्य कामाय सर्वे कामा अवस्थिता. ।
यस्यार्थे तत्तदर्थानामर्थना सम्प्रवर्तते ॥ १ ॥

घोरैः परिश्रमैः कृत्वा नानायत्नान् दिवानिशम् ।
यत्प्राप्यतेऽपि तद् यस्य भोक्तृत्वे पर्यवस्यति ॥ २ ॥

आत्मनस्तस्य निस्मृत्य स्वरूपं गौरवं तथा ।
कौडीकृत्यात्मनो हीनभावनां विचरन्ति ये ॥ ३ ॥

तथ्यातथ्यविवेकेन हीनाः कृपणबुद्धयः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥ ४ ॥

ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरात्मतत्त्वं मनीषिणाम् ।
तदेवाज्ञानमूढैर्हा ! प्रत्यक्षं सन्न दृश्यते ! ॥ ५ ॥

चैतन्यं यद्धि ते रूप भास्वतोऽपि प्रभास्वरम् ।
विद्यते तत्र मोहस्य स्थितेरेव न संभवः ॥ ६ ॥

मोहचैतन्ययोर्नित्यं भेद स्वाभाविको मतः ।
तेजस्तिमिरयोर्भावाभावयोरथवा यथा ॥ ७ ॥

१ जिस आत्मा की कामना के लिए
सारी कामनाएँ हुआ करती हैं,
जिस आत्मा के लिए
विभिन्न पदार्थों की माँग हुआ करती है,

२. दिन-रात घोर परिश्रमों के साथ
अनेक प्रकार के यत्नों को करके
प्राप्त हुई प्रत्येक वस्तु का सार्थक्य
जिस आत्मा के भोक्तृत्व में रहता है,

३. उस आत्मा के स्वरूप
और गौरव को भुलाकर,
तथा अपनी हीन भावना को
हृदय से पकड़कर जो विचरते हैं,

४. सत्यासत्य के विवेक से हीन,
अनुदार बुद्धि रखने वाले,
तथा घोर अन्धकार में निमग्न,
उन लोगों को श्रुति में आत्मघाती कहा गया है।

५. जो आत्मतत्त्व मनीषियों के लिए
ज्योतियों का भी ज्योति है,
खेद है ! वही अज्ञान से मूढ़ व्यक्तियों को
प्रत्यक्ष होता हुआ भी नहीं दिखायी देता !

६. तेरा यह चैतन्य-रूप
सूर्य से भी अधिक प्रकाश वाला है।
उसके विषय में मोह की
स्थिति हो ही नहीं सकती !

७. मोह और चैतन्य में परस्पर जो भेद है
वह सदा स्वाभाविक माना गया है;
वह भेद ऐसा ही है जैसा
प्रकाश और अन्धकार में अथवा भाव और अभाव में।



(४०)

चञ्चले तु जगत्यस्मिन्नेक आत्मैव निश्चलः

आत्मतत्त्व की स्थिरता

चञ्चले तु जगत्यस्मिन्नेक आत्मैव निश्चलः ।
तत्र चञ्चलभावानां कृते ते विभ्रमः कुतः ? ॥ १ ॥
जीवनेऽस्मिन्नवस्थानां भेदः स्वाभाविकस्तथा ।
बाहुल्येनानिवार्योऽपि दृश्यते, नात्र संशयः ॥ २ ॥
कृते तासामवस्थानां हर्षः शोकोऽथ खिन्नता ।
अभिमानोऽथवा गर्वो युज्यते नैव नैव च ॥ ३ ॥

१. इस अस्थिर स्वभाव वाले जगत् में केवल एक आत्मा ही निश्चल है । ऐसी अवस्था में अस्थिर पदार्थों के सम्बन्ध में तुझे विभ्रम क्यों है ?
२. इस जीवन में अवस्थाओं में परिवर्तन का होना स्वाभाविक है और प्रायेण वह अनिवार्य भी होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।
३. इसलिए उन अवस्थाओं के सम्बन्ध में हर्ष, शोक, खेद, अभिमान अथवा गर्व का करना किसी भी प्रकार युक्त नहीं ।

(४१)

शिलासंघातसंकाशाः सुस्थिरा दृढनिश्चयाः

महात्माओं का स्वभाव

आत्म-तत्त्व को समझने वाले महात्मा अपने निश्चयों पर पत्थरों की चट्टानों के समान दृढ़ रहते हैं; इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

जीवनेऽस्मिन्नवस्थानामागमोऽपाय एव च ।
स्वभावतः समायाति सर्वस्यापीति निश्चयः ॥ १ ॥
तत्त्वमेकं परं यत्र कूटस्थत्वेन वर्तते ।
तदेव शरणं गत्वा शान्तिमृच्छति मानवः ॥ २ ॥

इस जीवन में निश्चय ही सब किसी के साथ सुख-दुःखादि की अवस्थाओं का आना-जाना स्वभाव से ही होता रहता है । पर उन अवस्थाओं में भी एक आत्म-तत्त्व

अविचल रूप में (कूटस्थभाव में) बराबर वर्तमान रहता है। उसी की शरण में आकर, उसी के साथ अपने तादात्म्य को समझकर, मनुष्य शान्ति को पाता है।

हर्षेण वा विषादेन स्वरूपाद्विच्युतो नरः।
वात्यावेगेन संक्षुब्धवृक्षावलिसमो मतः॥ ३॥
शिलासंघातसंकाशाः सुस्थिरा दृढनिश्चयाः।
सत्त्ववन्तो महात्मानः शोभन्ते क्षोभवर्जिताः॥ ४॥

हर्ष अथवा विषाद के कारण जो मनुष्य अपने स्वरूप से विच्युत हो जाता है वह आँधी के वेग से अत्यन्त चपल वृक्षावली के समान है।

परन्तु सत्त्वशील महात्मा लोग पत्थरों की चट्टानों के समान सुस्थिर, दृढ़-निश्चय और सदा क्षोभ से रहित होते हैं।

---

(४२)

मदर्थं ननु दृश्यानि न तदर्थं ममास्तिता

दृश्य हमारे लिए हैं

दृश्य और द्रष्टा के बीच में द्रष्टा का ही प्राधान्य होता है, इसी सिद्धान्त को नीचे के पद्यों में समझाया गया है:—

गतागतत्वाद् दृश्यानामस्थिराणां स्वभावतः।
एकोऽहं निश्चलो द्रष्टा वर्ते, नैवात्र संशयः॥ १॥
अतो मदर्थं दृश्यानि न तदर्थं ममास्तिता।
ततस्तत्कारणात्क्षोभः सर्वथा न ममोचितः॥ २॥

१. दृश्य आने-जाने वाले होने से स्वभाव से ही अस्थिर होते हैं। मैं अकेला उनको देखने वाला निश्चल रहता हूँ; इसमें सन्देह नहीं है।

२. अतः दृश्य मेरे लिए हैं; मेरा अस्तित्व दृश्यों के लिए नहीं है। इसीलिए दृश्यों के कारण मुझे क्षोभ हो, यह किसी प्रकार उचित नहीं है।

तत् त्वं तत्ते महद्धनम्

आत्म-स्वरूप में संस्थिति

अहंकारेण निर्मुक्तं
तत्त्वं यच्छुद्धमव्ययम् ।
तत् त्वं भ्रातर्न जानीषे
तत् त्वं तत्ते महद्धनम् ॥ १ ॥

यस्याभीप्साजिहासाभ्यां व्याप्तमेतज्जगत्त्रयम् ।
सार्थक्यं लभते नूनं यस्यैवेक्षणमात्रतः ॥ २ ॥

महत्त्वममहत्त्वं वा सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
यस्यापेक्षामुपेक्षां वा समाश्रित्यैव तिष्ठति ॥ ३ ॥

संस्मृतिस्तस्य तत्त्वस्य नियतं ह्यनपायिनी ।
स्वरूपे संस्थितिः सत्यमात्मसंमानना मता ॥ ४ ॥

१. अहंकार से निर्मुक्त जो शुद्ध ध्रुव तत्त्व है, भाई तुम उसको नहीं जान रहे हो। वास्तव में तुम वही हो, वही तुम्हारा बड़ा धन है।

२. जिसकी अपनी अभीप्सा (= प्राप्त करने की इच्छा) और जिहासा (= छोड़ने की इच्छा) से व्याप्त इस त्रिलोकी की सार्थकता उसके ईक्षण-मात्र से सम्पन्न होती है,

३. प्रत्येक पदार्थ की महत्ता अथवा लघुता का रहस्य जिसकी अपेक्षा अथवा उपेक्षा में ही निहित है,

४. उसी तत्त्व की निश्चय रूप से अविचल संस्मृति को 'स्वरूपावस्थिति' कहना चाहिए। वास्तव में 'आत्म-संमान की भावना' यही है।



सोऽहं न संशयः

मैं कौन हूँ ?

सारवत्त्वमसारत्वं मूल्यवत्त्वमथान्यथा ।
वस्तूनां निर्णयापेक्षि यस्य सोऽहं न संशयः ॥ १ ॥

आहरन्ति बलिं यस्मै दृश्यानीमानि नित्यशः ।
विश्वभुग् विश्वसाक्षी च सोऽहं नैवात्र संशयः ॥ २ ॥

मांसमज्जादिभिः पूर्णो देहोऽयं पूतिपूरितः ।
मनोज्ञो रुचिरश्चापि येन, सोऽहं न संशयः ॥ ३ ॥

१. कोई भी पदार्थ सारवान् है अथवा सारहीन, मूल्यवान् है अथवा मूल्यहीन–इस बात में जिसके निर्णय की अपेक्षा की जाती है, निस्सन्देह मैं वही हूँ ।

२. ये सारे दृश्य पदार्थ पूजारूप में जिसके लिए अपने अनुभवों की बलि देते हैं वह विश्व का भोक्ता और साक्षी मैं ही हूँ, इसमें सन्देह नहीं है ।

३. मांस मज्जा आदि से पूर्ण और दुर्गन्ध से पूरित यह शरीर जिसके कारण सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, निस्सन्देह मैं वही हूँ ।



ब्रह्मभावनम्

ब्रह्म का चिन्तन

ऊपर आत्म-तत्त्व का विचार किया गया है। उस विचार का पर्यवसान विश्व-प्रपञ्च के समष्टि रूप ब्रह्म के चिन्तन में ही होता है। व्यष्टियों का जीवन समष्टि में ही रहता है, उसी तरह जैसे मछलियाँ पानी में ही जीवित रहती हैं। नीचे की रचनाओं (४५–५१) का इसी विचार से संबन्ध है—

(४५)

शेते सुप्त इवोरगः

ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्ति का क्रम

आत्मनो ब्रह्मसायुज्य-
क्रमव्याख्या विधीयते।
प्रथमं जडात्मकं सर्वं तमोऽवस्थानमेव तत् ॥ १ ॥
प्रकृत्या बलशालिन्या तमोभूयिष्ठया तदा।
आच्छादितो य एवाग्निः शेते सुप्त इवोरगः ॥ २ ॥
सधूमो रागयोगेण रजोऽवस्थानमेव तत्।
स एव निर्मलः शान्तः सत्त्वभूयिष्ठ उच्यते ॥ ३ ॥
तस्यैवोपरमोऽनन्ते शान्ते मह्यव्यसंशयम्।
निर्वाणमथ सायुज्यममृतत्वं च गीयते ॥ ४ ॥
एवं तमोरजःसत्त्वा-
वस्थाः क्रान्त्वा तदमृतम्।
चैतन्यमश्नुतेऽद्वैतं
ब्रह्मणा प्रणवेन वै[1] ॥ ५ ॥

---

१. तु० "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।······इति सर्वमोङ्कार एव।···सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म···। अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।"

(माण्डूक्योपनिषद् १।२।१२)

१. व्यष्टि-रूप आत्मा विश्व के समष्टि-रूप ब्रह्म के साथ किस क्रम से सायुज्य अथवा अद्वैत को प्राप्त करता है या कर सकता है, इसी की व्याख्या यहाँ की जा रही है।

जीव के क्रमिक विकास में जो सब से नीचे की या प्राथमिक अवस्था होती है वह जड़ावस्था से अभिन्न होती है; उसे घोर तामसिक स्थिति ही समझना चाहिए।

२. उस अवस्था में अत्यधिक तमःस्वरूपिणी तथा बलशालिनी प्रकृति से आच्छादित चैतन्य-रूप अग्नि, सोये हुए सर्प के समान, मानो सुप्तावस्था में रहती है।

३. वही चैतन्य-रूप अग्नि जब राग (=आसक्तिरूप रक्तता) के योग से मानो सधूम अवस्था को प्राप्त हो जाती है उसी को रजोगुण की स्थिति समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि घोर तामसिक अवस्था से ऊपर उठते हुए जीव में जो रागात्मक प्रवृत्ति का विकास होता है उसको राजस स्थिति ही समझना चाहिए।

राख से ढकी हुई कण्डे की आग वायु के लगने से सुलगने और धुआँ देने लगती है; वही स्थिति उक्त द्वितीय अवस्था में आत्मा की होती है।

वही चैतन्यरूप अग्नि जब निर्मल और शान्त होकर प्रकाशित हो उठती है तब उसमें सात्त्विक अवस्था का अत्यधिक विकास हुआ समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि अपने प्रकाश की उत्कृष्ट अवस्था में शुभ्र, निर्मल और शान्त दिखलायी देती है, ऐसे ही उत्कृष्ट सात्त्विकता के विकसित होने पर आत्मा निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

४. उसी व्यष्ट्यात्मक चैतन्य की जब अनन्त तथा शान्त ब्रह्म में उपरति हो जाती है उसी अवस्था का शास्त्रों में 'निर्वाण' अथवा 'सायुज्य' अथवा 'अमृतत्व' इन शब्दों से वर्णन किया गया है।

अभिप्राय यह है कि अग्नि जैसे अपनी अन्तिम स्थिति में समष्ट्यात्मक अग्नि में लीन हो जाती है, आत्मा की 'निर्वाण' अवस्था को भी वैसा ही समझना चाहिए।

५. इस प्रकार व्यष्टि रूप आत्मा क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक अवस्थाओं को पार करता हुआ अन्त में विश्व के समष्टि-रूप ब्रह्म के साथ अमृत-रूप अद्वैतावस्था को प्राप्त कर लेता है।

शास्त्रों में उसी ब्रह्म का वर्णन **प्रणव** या **ओंकार** रूप से भी किया गया है।



भूमा वै सुखमाम्नातं सुखमल्पे न विद्यते

विशाल-चिन्तन का महत्त्व

यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ।

(छान्दोग्य उपनिषद् ७।२३।१)

अर्थात्, जो विशाल है, महान् है, वही सुख-रूप है । अल्प में, लघु में, सुख नहीं रहता । निस्सन्देह महान् ही सुख है । इसलिए महान् को ही विशेष रूप से जानना चाहिए ।

लघु स्वार्थों का सतत चिन्तन ही मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण है और विशाल-चिन्तन में ही उसकी सच्ची शान्ति का रहस्य निहित है, इसी तथ्य का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है :—

शरीरात्मा लघुस्तस्य नैव कार्या विचारणा ।
चिन्तनं हि लघोर्यस्माल्लघुतापादकं मतम् ॥ १ ॥

भूमा वै सुखमाम्नातं सुखमल्पे न विद्यते ।
अनर्थान्तरता तस्मान्मता भूमपरात्मनोः ॥ २ ॥

ब्रह्मविज्ञायते ब्रह्म ह्याम्नातमसकृच्छ्रुतौ ।
तस्माद् ब्रह्मविचारेऽर्थी निमग्नः शान्तिमाप्नुहि ॥ ३ ॥

तत्त्वमानन्दरूपं तदादिमं नात्र संशयः ।
तथापि महदाश्चर्यं दृश्यन्ते दुःखिनो जनाः ॥ ४ ॥

एकमेवाद्वितीयं तन्मूलं सर्वस्य वस्तुनः ।
तद्विकासाः समे भावा नियतं तत्स्वरूपिणः ॥ ५ ॥

इत्येवं सततं ध्यायन्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
लघुतापादकान्भावान् भित्त्वा भूमानमश्नुते ॥ ६ ॥

१. शरीर धारी तत्तद् व्यक्ति का व्यक्तित्व लघु है। केवल उसी के स्वार्थ के विचार में मनुष्य को नहीं लगा रहना चाहिए। क्योंकि लघु का चिन्तन लघुता को लाने वाला होता है।

२. विशालता में अथवा महत्ता में ही सुख रहता है, ऐसा (उपरि-निर्दिष्ट) श्रुति में कहा गया है। अल्प में, लघु में, सुख नहीं रहता। इसीलिए 'भूमन्' (= महत्) और 'परमात्मन्' दोनों शब्द वास्तव में समानार्थक हैं, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है।'

३. ब्रह्म जो भूमा है उसको जानने वाला ब्रह्म हो जाता है, ऐसा श्रुति में बार-बार कहा गया है। इसलिए ब्रह्म-विचार-रूपी सागर में निमग्न होकर तुम शान्ति को प्राप्त करो।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य का चिन्तन जितना ही विशाल होगा अथवा लघु स्वार्थों से ऊपर रहेगा उतना ही अधिक सच्चे सुख और शान्ति का अनुभव उसको होगा।

मत्वा धीरो न शोचति

प्रसन्नता का मूल-स्रोत

यथा कस्यापि वृक्षस्य फले तद्वर्तिनो गुणाः [1]।
आविर्भावाय कल्पन्ते साकल्येन विशेषतः ॥ १ ॥

तथैव ब्रह्मणो धाम्नि ब्रह्माण्डे सन्ति ये गुणाः ।
आविर्भवन्ति ते सर्वे पिण्डे तत्कार्यरूपिणि ॥ २ ॥[2]

अत एव शरीरेऽस्मिन् चैतन्यं यद्धि दृश्यते ।
नूनं तद् ब्रह्मणो रूपं मूलतो नात्र संशयः ॥ ३ ॥

आत्मनो ब्रह्मणश्चैवाद्वैतं तस्माच्छ्रुतिर्जगौ ।
तदेतत्तत्त्वतो नूनं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

१. जैसे किसी वृक्ष में जितने भी गुण होते हैं वे सब के सब पूर्ण-रूप से उसके फल में विशेषतः प्रकट हो जाते हैं;

२. वैसे ही ब्रह्म के धाम-स्वरूप ब्रह्माण्ड में जो भी गुण विद्यमान हैं वे सब ब्रह्माण्ड के कार्यरूप इस शरीर-पिण्ड में विशेषतः आविर्भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि जैसे आम्रादि वृक्षों के विशिष्ट माधुर्य आदि गुण उनके कार्य रूप फलों में ही देखने में आते हैं, ऐसे ही ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के ओत-प्रोत होने पर भी उसके चैतन्यादि गुणों की साक्षात् प्रतीति ब्रह्माण्ड वृक्ष के फल-स्थानीय शरीर में ही होती है।

३. इसलिए यह मानना पड़ता है कि इस शरीर में जो चैतन्य दिखायी देता है वह मूल में ब्रह्म का ही रूप है; इसमें संदेह नहीं हो सकता।

४. इसीलिए श्रुतियाँ आत्मा और ब्रह्म के अद्वैत का गान करती हैं।

उपर्युक्त तथ्य को तात्त्विक दृष्टि से जानकर, तत्त्वदर्शी विद्वान् कभी शोक को नहीं प्राप्त होते।

आत्मानमभिमानोऽयं नूनमावृत्य तिष्ठति

अभिमान का आवरण

आनन्दं विभुमात्मानं ब्रह्म प्राहुर्मनीषिणः ।
सर्वत्रगमतोऽस्माभिः सान्निध्यं तस्य विद्यते ॥ १ ॥
सान्निध्यं कथमत्रेति जिज्ञासा न प्रयोजिका ।
सत्यस्मिन् नित्यसान्निध्ये कुतोऽस्माकं विषण्णता ? ॥ २ ॥
प्रश्न एष महांस्तावत् ममोद्वेगाय जायते ।
तस्यैतस्य समाधानं किञ्चिदत्र प्रपञ्च्यते ॥ ३ ॥
अभिमानो दुरन्तोऽयं तम आवरकं यथा ।
व्याघातकारणं तत्र सान्निध्ये नः प्रतीयते ॥ ४ ॥
आवृत्य परितः पृथ्वीं वर्तते वायुमण्डलम् ।
आत्मानमभिमानोऽयं तथैवावृत्य तिष्ठति ॥ ५ ॥
अभिमानेन मूढोऽयं सन्निधावपि संस्थितम् ।
आनन्दधाम सर्वत्र व्याप्तं तत्त्वं न पश्यति ॥ ६ ॥
ततो ज्ञानासिना धैर्यचर्म संगृह्य बुद्धिमान् ।
छित्वाहंकारमानन्दी ब्रह्मणा संगतो भवेत् ॥ ७ ॥

१. तत्त्वदर्शियों का कहना है कि ब्रह्म स्वभावतः आनन्द-स्वरूप, सर्वत्र फैला हुआ, सब का आत्मा और सर्व-व्यापक है। ऐसी दशा में हमारे साथ उस का सान्निध्य है, यह स्वतः सिद्ध है।

२. पर यहाँ 'यह सान्निध्य क्यों कर है ?' इस जिज्ञासा से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ नित्य रहने वाले इस सान्निध्य के होने पर हमारी यह विषण्णता क्यों है ? इसका क्या कारण है ?

३. यही महान् प्रश्न हमारे सामने है। इसी से हम उद्विग्न हो रहे हैं। इसी के समाधान की कुछ चर्चा हम यहाँ करना चाहते हैं।

४. हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अन्धकार सब पदार्थों को ढक लेता है, इसी प्रकार हमारा यह दुःखदायी अभिमान ही ब्रह्म के साथ हमारे सान्निध्य में व्याघात का कारण हो रहा है।

५. जैसे पृथ्वी को चारों ओर से वायु-मण्डल आवृत किये हुए है, इसी प्रकार यह अभिमान हमारी आत्मा को आवृत किये हुए रहता है।

६. अभिमान से मूढ़ावस्था को प्राप्त मनुष्य अपनी सन्निधि में भी रहनेवाले आनन्द के धाम तथा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म-रूप परम-तत्त्व का अनुभव नहीं कर पाता।

७. इस लिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह धैर्यरूपी ढाल को लेकर ज्ञान-रूपी खड्ग से अहंकार-शत्रु का संहार कर के ब्रह्म के सा
का अनुभव करे।



(४६)

विहगोऽनन्त आकाशे

अनन्त की यात्रा

विहगोऽनन्त आकाशे विचरन्नपि यदा कदा।
वृक्षाग्रं पर्वताग्रं वा यथैवाश्रित्य तिष्ठति ॥ १ ॥
तथैव पथिकोऽनन्ते विचरन् ब्रह्मणोऽध्वनि।
तांस्तानाश्रयते देवान् तत्तदादर्शरूपिणः ॥ २ ॥
उच्चादुच्चप्रदेशांस्तान् लब्ध्वा सोऽध्यात्मवर्त्मनि।
असक्तो निर्ममो गच्छन् ब्रह्मसायुज्यमश्नुते ॥ ३ ॥

१. जैसे अनन्त आकाश में जब तब विचरता हुआ एक पक्षी वृक्षों की चोटियों पर या पर्वत के शिखर पर आश्रय पाकर बैठ जाता है;

२. इसी प्रकार ब्रह्म प्राप्ति की अनन्त यात्रा का पथिक भी विचरता हुआ तत्तद् उदात्त आदर्शों के रूप में[१] तत्तद् देवताओं का आश्रय लेता हुआ आगे-आगे बढ़ता जाता है।

३. इस प्रकार वह अध्यात्म मार्ग में उच्च से उच्च स्थितियों (भूमियों) को पाकर असक्त और निर्ममभाव से ऊपर उठता हुआ अन्त में ब्रह्म-सायुज्य को पा लेता है।

---

१. तु० "संस्कृतेस्तारतम्यं य आदर्शा दर्शयन्ति नः। त एव देवतारूपा दरयन्ते भावमूलयः॥" (ग्रन्थकार की पुस्तक 'रश्मिमाला' २८।४)।

काष्ठपुत्तलिका इव

विश्व का सूत्रधार

यदन्तः शाश्वतं तत्त्वं तेजोरूपमकल्मषम् ।
तन्मनास्तत्परो भूत्वा विचरेन्ना गतस्पृहः ॥ १ ॥

कार्यकारणसूत्रेण
जगदेतत् परात्मना ।
चाल्यतेऽचलभावेन
काष्ठपुत्तलिका इव ॥ २ ॥

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् नैव किंचिदहेतुकम् ॥ ३ ॥

१ तेजोरूप अकल्मष (= मल या पाप से रहित) जो शाश्वत सर्वान्तर्यामी मूल तत्त्व है, मनुष्य को उसका चिन्तन करते हुए और उसमें विश्वास रखते हुए तृष्णा या लिप्सा से रहित होकर विचरना चाहिए ।

२. तथ्य तो यह है कि सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही इस जगत् को कठ पुतली के समान अचल भाव से कार्य-कारण के सूत्र (= डोर) द्वारा चला रहे हैं ।

३. जब कि कोई सूत्रधार कार्य-कारण के सूत्र द्वारा इस जगत् को चला रहा है तब यह निश्चित जानो कि इस जगत् में कोई भी बात निर्हेतुक नहीं हो सकती ।



दिव्यजीवनमार्गस्थो भवेयमिति भावये

दिव्य शैशवी अवस्था

अध्यात्म-मार्ग के पथिक के लिए, दूसरे शब्दों में, अपने जीवन में विश्व के समष्टि-रूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य या अनुभव चाहने वाले के लिए एक सुन्दर आदर्श के रूप में दिव्य शैशवी अवस्था का हृदयस्पर्शी चित्रण नीचे के पद्यों में किया गया है:—

अवस्थां शैशवीं दिव्या-
मामनन्ति मनीषिणः ।
गुणानां कीर्तनं तस्याः
क्रियते शान्ति-वर्धनम् ॥ १ ॥

चिन्ता यापरिमेयान्ता लोकान् संव्याप्य तिष्ठति ।
तस्या नाम्नापि सद्भावस्तस्यां किञ्चिन्न दृश्यते ॥ २ ॥
सन्दिहानमनोवृत्तिः संशयावसरस्तथा ।
अंशेनापि न विद्येते यतः शान्तिमयी हि सा ॥ ३ ॥
किञ्चिल्लोकोत्तरं ज्योतिर्दोषसंस्पर्शवर्जितम् ।[1]
शान्तेः प्रसारकं मन्ये शिशुभावेन तिष्ठति ॥ ४ ॥

१. मनीषी लोग शैशवी अवस्था को दिव्य अवस्था बतलाते हैं । शान्ति को बढ़ाने वाला उसी के गुणों का कीर्तन यहाँ हम करेंगे ।

२. कभी समाप्त न होने वाली जो चिन्ता सब लोगों को व्याप्त किये हुए है उसकी नाममात्र की भी सत्ता उस अवस्था में नहीं पायी जाती ।

३. सब कामों में सन्देह करने वाली मनोवृत्ति तथा संशय का अवसर दोनों किञ्चि-न्मात्र भी उसमें नहीं पाये जाते, क्योंकि वह अवस्था केवल शान्तिमयी होती है ।

४. ऐसा प्रतीत होता है कि दोषों के संस्पर्श से रहित और शान्ति का प्रसार करने वाली कोई लोकोत्तर ज्योति शिशुभाव से स्थित हो रही है ।

---

१. तु० "गुणत्रितयातीतं च ज्योतिः तत्त्वलोकमतोऽपरम् ।" (रघुवंशमहाकाव्ये १०।३)

प्राणरक्षाकृते लोकाश्चिन्तासन्तानकर्षिताः ।
दृश्यन्ते भयविभ्रान्ता धावन्त इव सर्वतः ॥ ५ ॥

तेषु तेषु प्रयत्नेषु साधकं बाधकं प्रति ।
रागद्वेषौ प्रजायेते सर्वस्यापि न संशयः ॥ ६ ॥

परेशस्य जगद्भर्तुर्मायया मातृरूपया ।
रक्षितानां शिशूनां सा चिन्ता नैवोपपद्यते ॥ ७ ॥

रागद्वेषभयैः शून्या निश्चिन्ताः प्रेममूर्त्तयः ।
सर्वेषां शिशवस्तस्मान्मोदमादधते सदा ॥ ८ ॥

निर्माया निरहङ्काराः
स्पर्धयास्पृष्टमानसाः ।
प्रसन्नचेतसो नूनं
शिशवो वशिभिः समाः ॥ ९ ॥

५. सांसारिक लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए नानाप्रकार की चिन्ताओं से सन्तप्त तथा एक न एक भय से विभ्रान्त मानो सब तरफ़ दौड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं।

६. प्रत्येक मनुष्य में अपने विभिन्न प्रयत्नों में साधक और बाधक वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति क्रमशः राग और द्वेष के भाव उत्पन्न हुआ करते हैं।

७. परन्तु जगदीश्वर भगवान की मातृ-रूपिणी माया से सुरक्षित शिशुओं में वह दुःख-दायिनी चिन्ता नहीं पायी जाती।

८. राग, द्वेष और भय के भावों से शून्य, चिन्ता से रहित प्रेम के मूर्त्ति-स्वरूप शिशु सब के लिए प्रसन्नता को देनेवाले होते हैं।

९. छल-कपट और अहङ्कार से रहित, जिनके मन में स्पर्धा ने स्पर्श भी नहीं किया है, अत एव सदा प्रसन्न-चित्त शिशुओं को संयतेन्द्रिय महात्माओं के समान समझना चाहिए।

नानाधिव्याधिखिन्नानां
सन्तापैस्तप्तचेतसाम् ।
दुर्भावनापरीतानां
मर्त्यलोकाधिवासिनाम् ॥ १० ॥

शान्तिप्रसादमाधुर्य-
दिव्यसंदेशवाहिनः।
देवदूतान् शिशून्मन्ये
देवलोकादुपागतान् ॥ ११ ॥

१०. नाना प्रकार की आधियों और व्याधियों से खिन्न, सन्तापों से सन्तप्त और अनेकानेक दुर्भावनाओं से ग्रस्त मर्त्यलोकाधिवासी लोगों के लिए

११. शान्ति, प्रसाद और माधुर्य के दिव्य सन्देशों को देने वाले शिशुओं को देवलोक से आये हुए देवदूत मानना चाहिए।

अवस्थां शैशवीं तस्माद्
आहुरादर्शमुत्तमम्।
मनीषिणो मनुष्याणां
कृते लोकहितैषिणः ॥ १२ ॥

बालभावेन तिष्ठासेद् विद्वान् शान्तिपरायणः।
श्रुति[1]रेतज्जगौ तस्माल्लोककल्याणकाम्यया ॥ १३ ॥
ब्रह्मसूत्रपदै[2]श्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम्।
आरुरुक्षोर्मुनेरर्थे शैशवाश्रयणं हितम् ॥ १४ ॥
एतस्मात्कारणादेव शिशुभावेन कल्पिता।
लोकैस्तस्य जगद्भर्तुर्हृद्या मूर्त्तिरुपास्यते ॥ १५ ॥

१२. इसीलिए लोकहितैषी मनीषियों ने मनुष्यों के लिए शैशवी अवस्था को उत्तम आदर्श कहा है।

१३. इसीलिए—शान्तिपरायण विद्वान् को बालभाव से रहने की इच्छा करनी चाहिए—ऐसा लोक कल्याण की कामना से श्रुति (= वेद) ने गान किया है।

१४. वेदान्तसूत्रों ने भी हेतु और उपपत्ति के साथ ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया है कि आध्यात्मिक जगत् में ऊपर उठने की इच्छा रखने वाले मुनि के लिए शैशव-भाव को धारण करना श्रेयस्कर है।

---

१ तु० "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।"
(बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१)

२. तु० "अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्" (वेदान्तसूत्र ३।४।५०)

१५. उपर्युक्त कारण से ही सांसारिक लोग जगदीश्वर भगवान् की शिशु-भाव से कल्पित सुन्दर मूर्ति की उपासना करते हैं।

तमेव शैशवादर्श-
मनुगच्छन्निरन्तरम्।
प्रसन्नो दोषनिर्मुक्त-
स्तिष्ठेयमिति भावये ॥ १६ ॥

१६. उसी शैशवी अवस्था के आदर्श का निरन्तर अनुसरण करते हुए दोषों से रहित होकर मैं प्रसन्नता से रहूं, यही मेरी कामना है।

तत्त्व-साक्षात्कारः

परम-तत्त्व का साक्षात्कार

मूल-तत्त्व के चिन्तन और विश्वास को अपने जीवन का आधार और चरम लक्ष्य समझने वाले तत्त्वदर्शी विवेचक की दृष्टि से परम तत्त्व के स्वरूप के वर्णन के साथ साथ उसके चिन्तन से जनित अपनी अनुभूति का दिग्दर्शन भी नीचे की (५२ से ५८ तक की) रचनाओं में किया गया है:—

(५२)

यस्मात्परतरं नास्ति तदहं नित्यमाश्रये

समस्त शक्तियों का मूल-स्रोत

आश्रयः सर्वशक्तीनां द्वन्द्वातीतं निरञ्जनम्।
यत्तत्कारणमव्यक्तं शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १ ॥
समष्टिभूतं सर्वासां व्यष्टीनामन्ततो मतम्।
यस्मात्परतरं नास्ति तदहं नित्यमाश्रये ॥ २ ॥

जो मूल-तत्त्व समस्त शक्तियों का आश्रय,
द्वन्द्वों से परे, अर्थात् सर्वदा एक रस, विशुद्ध
और सृष्टि का अव्यक्त कारण है;
जो ध्रुव अविनाशी पद है;
अन्ततोगत्वा समस्त व्यष्टियों का
जो समष्टि रूप है;
और जिससे परे कुछ नहीं है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूं ॥



(५३)

तदहं नित्यमाश्रये

मूल-तत्त्व में आस्था

प्रेमकारुण्ययोर्धाम
तत्त्वं विश्वनियन्तृ यत् ।
जीवनस्य परं मूलं
तदहं नित्यमाश्रये ॥ १ ॥

विस्मृतेनापि बहुधा मया मोहवशेन हा !
विस्मर्यं न क्षणं येन तदहं नित्यमाश्रये ॥ २ ॥
प्राणानामपि मे प्राणः परमं यत्परायणम् ।
वरेण्यं शरणं पुण्यं तदहं नित्यमाश्रये ॥ ३ ॥

१. जो मूलतत्त्व प्रेम और कारुण्य का स्थान है,
जो समस्त विश्व को नियन्त्रण में रखता है,
जो जीवन का परममूल है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ ।

२. हा ! मैं मोहवश
प्रायः उसे भूले रहता हूँ !
पर जो क्षण भर के लिए भी मुझे नहीं भुलाता,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

३. जो मेरे प्राणों का भी प्राण है,
जो जीवन का परम उत्कृष्ट आदर्श है,
जो वरणीय पवित्र शरण स्थान है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

ध्यायते योगिभिर्नित्यं ज्ञानिभिश्चिन्त्यते तथा ।
भक्ता गानरता यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥ ४ ॥

सन्तोऽपि यस्य सत्ताया विश्वासेन निरन्तरम् ।
जीवन्मुक्ता वसन्तीह तदहं नित्यमाश्रये ॥ ५ ॥

४. योगी सदा जिसका ध्यान करते हैं,
ज्ञानी जिसका चिन्तन करते हैं,
भक्त-जन जिसके गान में रत रहते हैं,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

५. सन्त-महात्मा जिसकी सत्ता के विश्वास से,
संसार में निरन्तर
जीवन्मुक्तों का जीवन व्यतीत करते हैं,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

गीयते कीर्तिसंगीतं
सुगन्धिसुमनोहरैः ।
निःशब्दं कुसुमैर्यस्य
तदहं नित्यमाश्रये ॥ ६ ॥

सौन्दर्यं विश्वविस्तीर्णं
कवयः क्रान्तदर्शिनः ।
पश्यन्त्यलौकिकं यस्य
तदहं नित्यमाश्रये ॥ ७ ॥

शुद्धोदात्तविचारेषु
परार्थे जीवने तथा ।
मन्ये मे दर्शनं यस्य
तदहं नित्यमाश्रये ॥ ८ ॥

व्यष्टेरस्या मदीयायाः सर्वस्वं निलयस्तथा ।
समष्टिरूपं यत्तत्त्वं तदहं नित्यमाश्रये ॥ ९ ॥

अपूर्णतासु सर्वासु
तथाकाङ्क्षास्वसंशयम् ।
संकेतो यस्य पूर्णस्य
तदहं नित्यमाश्रये ॥ १० ॥

यन्नूनं परमं सत्यं नैव किञ्चिद्बहिर्यतः ।
सन्निधावथ दूरे यत् तदहं नित्यमाश्रये ॥

६. सुगन्धित सुमनोहर पुष्प
जिसकी कीर्ति के संगीत का
निःशब्द-भाव से गान करते हैं,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

७. जिसके समस्त विश्व में फैले हुए
अलौकिक सौन्दर्य को
क्रान्त दर्शी कविगण देखते हैं,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

८. पवित्र उदात्त विचारों में
तथा परार्थ जीवन में
मुझे जिसकी झाँकी मिलती है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

९. जो विश्व का समष्टि रूप तत्त्व
मेरी इस व्यष्टि (= व्यक्ति) का सर्वस्व
और एकमात्र निकेतन है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

१०. समस्त अपूर्णताओं में
तथा समस्त आकाङ्क्षाओं में

जिस पूर्ण तत्त्व का निश्चित संकेत मिलता है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

११. निश्चय ही जो परम सत्य है,
जिससे बाहर कुछ भी नहीं है,
जो पास भी है और दूर भी है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।



(५४)

कृष्णेत्याकर्षकं तत्त्वम्

कृष्ण-तत्त्व-मीमांसा

ऊपर परम तत्त्व के साक्षात्कार का उल्लेख किया गया है। प्रश्न यह है कि वह साक्षात्कार कैसे हो सकता है? और उसका स्वरूप क्या है?

ऐसी परम्परागत धारणा है कि इन्द्रियों की जहाँ तक गति है उससे ऊपर उठकर, इन्द्रियों का सर्वथा निरोध करके, योग शास्त्रोक्त धारणा ध्यान और समाधि के द्वारा ही भगवान् का, परमतत्त्व का, साक्षात्कार किया जा सकता है।

यदि ऐसा ही है तब देखना यह है कि वह साक्षात्कार किस रूप में होता है। उक्त दृष्टि में इन्द्रियों के सर्वथा निरोध के कारण यह स्पष्ट है कि वह साक्षात्कार ऐन्द्रियक प्रकार का नहीं हो सकता। अपूर्ण भाषा के सहारे उसे किसी प्रकार बुद्धिगम्य या उससे भी ऊपर उठकर स्वरूपावस्थिति के रूप में ही कहा जा सकता है।

एक प्रकार से यह ठीक है। पर प्रश्न उठता है कि जब इन्द्रियाँ उस साक्षात्कार में बाधक ही हैं, तब क्या आध्यात्मिक दृष्टि से सृष्टि की योजना में इन्द्रियाँ व्यर्थ ही हैं? क्या वे बाधक होने के स्थान में अध्यात्म दर्शन में सहायक नहीं हो सकतीं?

एक दिन प्रातः नैत्यिक भ्रमण के लिए जाते हुए यही समस्या विकट रूप में मन में उठी। निश्चय किया कि इसका समाधान आज ही होना चाहिए।

नगर के बाहर की प्राकृतिक सौन्दर्यावली में विचरते हुए अनुभव किया—

प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडन्ननारतम्।
लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ॥ १ ॥

स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम् ॥ २ ॥

(रश्मिमाला ३६)

अर्थात्—

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीड़ा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।
उसके स्नेह से आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानों अमृत को पीकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

अथवा

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता ।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ ।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे ॥

(रश्मिमाला ३४।१–३)

अर्थात्

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि में सर्वत्र—
सूर्य में, चन्द्रमा में, जल में, वायु में,
प्रफुल्ल कुसुमावलि में—
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे।

इसी मानसिक पृष्ठ-भूमि में भगवद्गीता के निम्न वचन स्मरण हो आये—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय! प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥

(गीता ७।८–९)

अर्थात्, जलों में रस, चन्द्र-सूर्य में प्रभा, पृथिवी में पवित्र सुगन्ध और अग्नि में प्रकाश—ये सब भगवान् के ही रूप हैं।

उस समय यही प्रतीत होने लगा कि विश्व का यावत् सौन्दर्य भगवान् का ही सौन्दर्य है। जैसे मांस-मज्जा आदि से पूर्ण और दुर्गन्ध से पूरित इस शरीर में जो मनोज्ञता और आकर्षण है उसके मूल में चेतन आत्मा की सत्ता है। इसी प्रकार इस विश्व में तत्तत् पदार्थों द्वारा जो दिव्य शान्ति, जीवन-प्रेरणा, अनन्तानन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्य की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा हो रही है, उस के मूल में मूलतत्त्व-स्वरूप भूत-भावन भगवान् की सत्ता है।

उक्त दृष्टि से भगवान् के स्वरूप के साक्षात्कार में, अनुभव में, स्पष्टतः इन्द्रियाँ साधक ही हैं, बाधक नहीं।

उक्त भ्रमण में उद्भूत विचार उसी समय जिन पद्यों में ग्रथित कर लिये गये थे उन्हीं को संक्षिप्त व्याख्या के साथ हम नीचे देते हैं—

आनन्दं शाश्वतं तेजो
लोकादुद्विग्नचेतसः।
रुद्धाक्षाः प्रयतन्ते यत्
स्वान्ते द्रष्टुं मनीषिणः ॥ १ ॥

तदेतदिन्द्रियैः साक्षात्
परितः परमेष्ठिनम्।
दृष्ट्वा भक्ताः प्रसीदन्तः
कीर्तयन्ति दिवानिशम् ॥ २ ॥

कृष्णेत्याकर्षकं तत्त्वम्
इन्द्रियाणामतो मतम्।
गोप्यस्तद्वृत्तयस्तस्माद्
भक्तानां परिभाषया ॥ ३ ॥

मनीषी लोग संसार से उद्विग्न चित्त हो कर जिस आनन्द-स्वरूप शाश्वत तेज को, *इन्द्रियों का निरोध करके, अपने मानस या अन्तःकरण में देखने का प्रयत्न* **करते हैं,**

---

१. गवाम् इन्द्रियाणां पालनं पुष्टिर्वा सद्वृत्तिभिरेव क्रियते। पुष्पेषु भ्रमर्य इव विषयेषु प्रवृत्ता इन्द्रियवृत्तयस्तद्रसं गृहीत्वा तेनैवेन्द्रियाणां तृप्तिं पुष्टिं च कुर्वन्ति। अन्यथा तेषां वैयर्थ्यापत्तेः क्षीणत्वसंभावनोत्पद्यते। अतो वृत्तय एव गोप्यः।

सर्वत्र परमेष्ठी (परमे = ऊँची स्थिति में स्थित, अर्थात्, आपाततः उद्भूत अनुभवों की अपेक्षा उत्कृष्टतर अनुभव से गम्य) उसी मूल तत्त्व को भक्त-जन साक्षात् इन्द्रियों द्वारा देखकर (= अनुभव करके) दिनरात उस का कीर्तन करते हैं।

इसलिए इन्द्रियों के लिए **आकर्षक** होने से वह मूल तत्त्व, भक्त-जनों की परिभाषा में, **'कृष्ण'** इस नाम से कहा जाता है और इन्द्रियों की वृत्तियों को **'गोपी'** (गो = इन्द्रियों को पालने या पुष्ट करने वाली) कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त दृष्टि से इस अनन्तानन्त परम-विशाल विश्व के द्वारा जिसका सुन्दर रूप हमें सदैव इन्द्रिय-गोचर हो रहा है और जो स्वभावतः इन्द्रियों के लिए 'आकर्षक' है उसी परम तत्त्व को **'कृष्ण'** इस नाम से कहा जाता है।

अपनी वृत्तियों द्वारा ही इन्द्रियों को बाह्य दृश्यों का बोध होता है। दूसरे शब्दों में, इन्द्रियों के इन्द्रियत्व को सार्थक करने वाली या उनको पुष्ट करने वाली (= उनके भोग्य अनुभवों को देनेवाली) इन्द्रिय वृत्तियाँ ही हैं।

इन्द्रियों का नाम 'गौ' है। इसलिए उनकी वृत्तियों को **'गोपी'** कहा जाता है। इन वृत्तियों (= गोपियों) का स्वाभाविक 'आकर्षण' (= प्रवृत्ति) बाह्य जगत् की ओर है।[1] जैसे मधु मक्खियाँ नाना प्रकार के पुष्पों से मधु को, या सूर्य-रश्मियाँ नाना प्रकार के जल-स्थानों से विशुद्ध जलको खींच लेती हैं, ऐसे ही आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवस्था में इन्द्रियों में बाह्य जगत् के द्वारा ही परम तत्त्व-स्वरूप भगवान् के साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है।[2] इन्द्रियों द्वारा परम तत्त्व के साक्षात्कार का यही अर्थ है।

बाह्य जगत् में भगवान् की स्थिति आपाततः नहीं दिखायी देती; आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवस्था में ही उसका भान होता है। इसीलिए परम तत्त्व को **'परमेष्ठी'** कहा गया है।

यह आध्यात्मिक दृष्टि जिन की हो जाती है सच्चा 'भक्त' उन को ही कहना चाहिए। वास्तव में **'कृष्ण'** और **'गोपी'** ये शब्द भी उन्हीं की परिभाषा के हैं।

ऐसे ही भक्तों की आध्यात्मिक भावना का वर्णन इस ग्रन्थ की अन्तिम रचना (संख्या ४८) में किया गया है।



---

१. तु० "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (कठोपनिषद् २।१।१)। तथा "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।" (भगवद्गीता ३।३३)।

२. तु० "अदृश्यमपि यत्तत्त्वं लौकिकानामगोचरम्। तदेव परितः स्पष्टं विदुषानां प्रतीयते॥" (रश्मिमाला ६१।२)।

(५५)

आनन्दानुभूतिः

आनन्द की अनुभूति

नित्यं तस्य जगद्भर्तुः प्रतिवेशे वसन्नपि ।
दारिद्र्येणाभिभूतोऽहमिति मिथ्यामतिर्मम ॥ १ ॥

सदा उस विश्वंभर भगवान् के पड़ोस में रहते हुए भी मेरा 'मैं दारिद्र्य से अभिभूत हूँ' ऐसा सोचना मेरी मिथ्यामति ही है ।

पेयस्यामृतकल्पस्य जीवनस्यान्तिके सतः ।
पिपासाकुलितस्येव महामूर्खस्य सा स्थितिः ॥ २ ॥

मेरी यह स्थिति पीने के योग्य और अमृत के समान जल के पास में होते हुए भी प्याससे व्याकुल महामूर्ख के समान ही है ।

(५६)

अनन्ते प्रगतेमार्गे

प्रगति का अनन्त मार्ग

अनन्ते प्रगतेर्मार्गे गच्छन्सोल्लासमानसः ।
नानाविधानि दृश्यानि पश्यन्नानन्दनिर्भरः ॥ १ ॥
अनासक्तः क्वचित् , स्वीयं यात्रोद्देश्यं च संस्मरन् ।
सर्वदा सर्वथा स्वस्थः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥ २ ॥

प्रगति के अनन्त मार्ग पर
मन में उल्लास के साथ चलते हुए,
नाना प्रकार के दृश्यों को
आनन्दातिशय से देखते हुए,
कहीं भी आसक्त न हो कर
अपनी यात्रा के उद्देश्य को स्मरण में रखते हुए,
सर्वदा सब प्रकार से शान्त-चित्त,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ ।

---

१. "पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्" इत्यमरः ।

सदानन्दो वसाम्यहम्

आनन्द-निर्झर भगवान्

विश्वात्मा भगवान् नूनम्,
साक्षादानन्दनिर्झरः ।
तस्यान्तः संस्थितः स्वस्थः
सदानन्दो वसाम्यम् ॥ १ ॥[1]

योऽसौ सर्वजगद्रक्षाभारं वहति सर्वदा ।
तस्मिन्न्यस्याखिलाश्चिन्ताः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥ २ ॥
योऽसौ सर्वजगत्साक्षी भगवान् पुरुषोत्तमः ।
तदाश्रयेण निश्चिन्तः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥ ३ ॥

चिन्तासन्तानसंतापैः
खिन्नानां परमौषधम् ।
आत्मविश्वासमाश्रित्य
सदानन्दो वसाम्यहम् ॥ ४ ॥

१. विश्वात्मा भगवान् निश्चय ही
साक्षात् आनन्द के निर्झर हैं ।
उन के अन्दर स्थित, शान्तचित्त,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

---

१. आनन्दानुभूति की तीव्र लालसा से वैदिक साहित्य ओत-प्रोत है । उदाहरणार्थ नीचे के प्रमाणों को देखिए —

स्वरभिविख्येषम् । (यजु० १।११)
यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते । ''(ऋग्० ९।११३।७)
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि''''''(ऋग् ९।११३।९)
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र माममृतं कृधि । (ऋग् ९।११३।११)

२. जो सदा संपूर्ण जगत् की रक्षा के
भार को उठाये हुए हैं,
उन्हीं पर सारी चिन्ताओं को छोड़ कर
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

३. ये जो सारे जगत् के साक्षी
भगवान् पुरुषोत्तम हैं,

उन्हीं के आश्रय से निश्चिन्त हो कर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

४ चिन्ता की परम्परा के संताप से
खिन्नों के लिए परम औषधरूप
आत्म विश्वास के आश्रय को पाकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।



(५८)

अयि विश्व-भावन ! विश्वभृद्

भगवान् की महिमा

अयि ! विश्वभावन विश्वभृत्
करुणानिधान नमोऽस्तु ते।
महिमा महान् मम मानसे
महनीय देव ! विभाति ते ॥ १ ॥
गिरिमूर्ध्नि निर्जनकानने
रमणीयतैकनिकेतने।
तडितां गणैरतिशोभने
परिभाति ते महिमा घने ॥ २ ॥

तपनातपेन विभासिते
गगनाङ्गणे विधु-भा-सिते ।
उडुवृन्ददीप्तिविचित्रिते
तव रोचिरेव विरोचते ॥ ३ ॥

१. अयि विश्व-भावन ! विश्वम्भर !
करुणा-निधान ! आपको मेरा नमस्कार है ।
हे पूजनीय देव ! आपकी बड़ी महिमा
मेरे मन में भासित हो रही है ।

२. पर्वत के शिखर पर, अथवा रमणीयता के
एकमात्र निकेतन निर्जन कानन में,
अथवा बराबर दमकती हुई दामिनी
से शोभित बादल में आपकी महिमा भासित हो रही है ।

३. सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित,
अथवा चन्द्रमा की चाँदनी से शोभायमान,
अथवा तारा समूह की दीप्ति से विचित्रित
गगन के अंगण में आपकी ही छवि चमकती है ।

द्विजवृन्दशब्दनिकूजिते
कुसुमावलीपरिशोभिते ।
मलयानिलेन सुगन्धिते
मृगसंचयेन निषेविते ॥ ४ ॥

शुभशीतनिर्झरवारिणा
सरसीतटे परिपूरिते ।
मुनियोगिवृन्दसमर्चिते
महिमा विभो ! तव भासते ॥ ५ ॥

४. पक्षि-समूहों के शब्दों से शब्दायमान,
पुष्पों की पंक्तियों से शोभायमान,
मलयानिल से सुगन्धित,
मृगों के समूहों से निषेवित,

२. जो सदा संपूर्ण जगत् की रक्षा के
भार को उठाये हुए हैं,
उन्हीं पर सारी चिन्ताओं को छोड़ कर
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

३. वे जो सारे जगत् के साक्षी
भगवान् पुरुषोत्तम हैं,
उन्हीं के आश्रय से निश्चिन्त हो कर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

४. चिन्ता की परम्परा के संताप से
खिन्नों के लिए परम औषधरूप
आत्म-विश्वास के आश्रय को पाकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !



(५८)

अयि विश्व-भावन ! विश्वभृद्

भगवान् की महिमा

अयि ! विश्वभावन विश्वभृत्
करुणानिधान नमोऽस्तु ते ।
महिमा महान् मम मानसे
महनीय देव ! विभाति ते ॥ १ ॥

गिरिमूर्ध्नि निर्जनकानने
रमणीयतैकनिकेतने ।
तडितां गणैरतिशोभने
परिभाति ते महिमा घने ॥ २ ॥

५. झरनों के स्वच्छ शीतल जलों से
परिपूरित झीलों के तटपर,
जहाँ मुनियों और योगियों के दर्शन होते हैं,
हे प्रभो ! आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है।

विजितान्तरारिचमूचयाः
शुभशान्तवृत्तिसदाशयाः ।
विहिताधिदैवसमाश्रयाः
प्रणिधानजातविनिश्चयाः ॥ ६ ॥
परदुःखतापकदर्थना
मथितुं समाहितभावना. ।
तव तन्मनःसु विरोचना
द्युतिरस्ति येऽत्र तपोधनाः ॥ ७ ॥

६. जिन्होंने आभ्यन्तर शत्रुओं की सेनाओं को जीत लिया है,
जिनकी चित्त-वृत्तियाँ पवित्र और शान्त हैं और जो सदाशय हैं,
जिन्हें एकमात्र भगवान् का सहारा है,
जिन्होंने चित्त की एकाग्रता से तात्त्विक ज्ञान को पा लिया है,

७. दूसरों के दुःख के तापों की पीडाओं को
दूर करने के लिए जिन्होंने अपनी भावनाओं को पवित्र बनाया है,
उन तपोधनों के हृदयों में
आपकी शोभायमान द्युति विराजमान है।

मुनिभिर्भवानिह चिन्त्यते
व्रतिभिर्भवान् परिचीयते ।
निगमस्तथा जगदीश ! ते
ह्युपवर्णनेत्यवसीयते ॥ ८ ॥
निजनीडसंश्रितपक्षिभि-
रुपसीह सायमु राविभिः ।
गुणकीर्तनं तव योगिभिः
क्रियते समाहितबुद्धिभिः ॥ ९ ॥

८. मुनिजन आपकी चिन्तना करते हैं;
मती लोग आपका परिचय प्राप्त करते हैं।
हे जगदीश! वेद भी निश्चय ही
आपके गुणों का वर्णन करते हैं।

९. अपने घोंसलों में बैठकर प्रातः
और सायं शब्द करने वाले पक्षियों द्वारा
तथा समाहित बुद्धिवाले योगियों द्वारा
आपके गुणों का कीर्तन किया जाता है।

सगुणो भवानिह कर्मठै-
रपि निर्गुणः कथितः कठैः।
तव चित्रमत्र चरित्रमा-
त्मरतैरवेक्ष्यमसंशयैः ॥ १० ॥

विपिनेऽथवा गिरिगह्वरे
परितो दरेऽपि मनोहरे।
समुपह्वरे त्वयि सुन्दरे
मुनयो हरे! निरताः परे ॥ ११ ॥

१०. आप कर्मकाण्डियों द्वारा सगुण
और उपनिषदों द्वारा निर्गुण कहे गये हैं।
आपके विचित्र चरित्र को
संशय से रहित आत्म-रत लोग ही देख सकते हैं।

११. हे भगवन्! चारों ओर भय के होने पर भी मनोहर
विपिन में, अथवा पर्वत की गुफा में, अथवा एकान्तस्थान में
मुनिजन सौन्दर्य से युक्त तथा परमधाम-स्वरूप
आपके ध्यान में ही निरत रहते हैं।

यदजं ध्रुवं परितस्ततं
निगमागमैरपि संस्तुतम्।
तव तत्स्वरूपमहं भजे
शिव! शान्तिधाम निरन्तरम्॥ १२॥

॥ इत्यमृतमन्थने मङ्गप्रसादो नाम तृतीयः परिस्रवः॥

१२ हे शिव! हे शान्तिधाम! भगवन्!
मैं आपके उस स्वरूप को निरन्तर भजता हूँ,
जो अजन्मा, कूटस्थ, सर्वत्र व्यापक
और निगम तथा आगम द्वारा संस्तुत है।

परिशिष्ट-भाग

जीवन और जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध में 'अमृत-मन्थन' की रचनाओं में ग्रन्थकर्ता की एक विशेष दृष्टि रही है। उसी दृष्टि के स्पष्टीकरणार्थ अपनी पुस्तक 'रश्मि-माला' (अथवा 'जीवनसंदेश-गीताञ्जलि') से कुछ उपयोगी उद्धरण परिशिष्ट रूप में आगे दिये जाते हैं।

परिशिष्ट १

(क)

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

"अस्माकं सन्त्वाशिषः ।
सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥" [यजु० २।१०]

अर्थात्, हम आशावादी बनें। हमारी आशाएँ सफल हों।

भारतीय विचार-धारा में इधर चिरकाल से 'संसार असार है', 'जीवन क्षणभंगुर और मिथ्या है' इस प्रकार की निराशावाद की भावनाओं का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्तिहीन, उत्साहहीन और आदर्शहीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता ? पर भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा में आशावाद सदा से ओत-प्रोत रहा है। उसी आशावाद के स्वरूप और महिमा का वर्णन नीचे किया जाता है:—

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।
तां समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥ १ ॥

मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए तुम्हें उस पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए।

मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित हैं।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः[1] ॥ ३ ॥

---

१. तु० 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)।

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसलिए "भगवन्! मुझको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए" ऐसा श्रुति का वचन है।

आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥ ४ ॥

आस्तिकता (= जीवन में आदर्श भावना), आत्मविश्वास, कारुण्य, सत्यपरायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति—संसार में इनका सद्भाव आशावादियों में ही हो सकता है।

निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥ ५ ॥

निराशावादी लोग स्वभाव से ही मन्द (उदात्त भावनाओं से विहीन), निष्ठुर (असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं। वेद[1] में ऐसे ही लोगों को उदात्त आदर्शों की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्मविस्मृति-रूप आत्महत्या करने वाला कहा गया है। (रश्मिमाला १)



(ख)

जीवनस्य रहस्यम्

जीवन का रहस्य

"लोका यत्र ज्योतिष्मन्त-
स्तत्र माममृतं कृधि।" [ऋग्० ९।११३।९]

अर्थात्, भगवन्! मुझे ज्योतिर्मय लोकों में अमृत पद (= शाश्वत जीवन) प्राप्त कराइये।

---

१. तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥" (यजु० ४०।३)

अर्थात्, आत्मतत्त्व या आत्म चेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवन में आदर्शभावना का अभाव) न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु होती है।

'जीवन निःसार और मिथ्या है', 'जीवन बन्धन या कारागार के समान है और उससे छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारा परम कर्तव्य है' ऐसी मिथ्या-भावनाओं ने हमारे जातीय जीवन को चिरकाल से नष्ट-भ्रष्ट कर रखा है। इनके कारण ही, जेल के कैदी के समान, हम स्वभावतः, न केवल अपने ही, किन्तु जाति, राष्ट्र या मानव के भी विकास और समुत्थान से प्रायः उदासीन रहे हैं।

परन्तु नीचे जीवन के विषय में एक नयी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार जीवन मिथ्या होने के स्थान में परमात्मा का एक महान् प्रसाद है। इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्त विकास और समुन्नति का साधन जीवन ही है। वास्तव में तो हमारा जीवन शाश्वत है। हमारा यह जीवन उसी शाश्वत अनन्त जीवन की प्राप्ति का एक अनिवार्य और अमूल्य साधन है। इसी लिए उसमें आस्था की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है:—

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः ।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥ १ ॥

जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझते हैं।

जीवनस्य भयं मृत्योर्मरणान्तं च जीवितम् ।
आ जन्मनः क्रमेणायुर्ह्रासो मृत्युपथानुगः[1] ॥ २ ॥
इत्येवं नैकधानर्थमूलं मिथ्यामतिर्नृणाम् ।
जीवनास्थाविहीनांस्तान् विदधाति भयार्दितान् ॥ ३ ॥

'जीवन को मृत्यु का भय है', 'मृत्यु पर्यन्त ही जीवन है', तथा 'जन्म से ही आयु घटने लगती है और बराबर मृत्यु के पास पहुँचती जाती है' इस प्रकार के अनेकानेक अनर्थों के मूल परम्परागत मिथ्या विचार मनुष्यों को जीवन में आस्था से रहित और भय से व्याकुल बनाते हैं।

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्तेऽत्र दुस्तरे ।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥ ४ ॥

---

१. तु० "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" (रघुवंश ८।८७) तथा "संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा। सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने ॥"

अर्थात्, मनुष्य के लिए मृत्यु स्वाभाविक और जीवन अस्वाभाविक है। एवं संसार स्वप्नमात्र है, प्राण और धन चलायमान हैं। संसार में सुख के स्थान में बराबर दुःख ही दुःख दीख पड़ता है।

...यत्नों से विहीन निराशावादी लोग मोह के दुस्तर भँवर में पड़े हुए केवल कीड़ों के समान दुःख को पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमभिधत्तेऽसकृच्छ्रुतिः।
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि",[1] "जीवा ज्योतिरशीमहि"[2] ॥ ५ ॥

उनके प्रति अनुकम्पा के भाव से ही वेद में "मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए", "हम बराबर प्रकाशमय आशामय जीवन को प्राप्त करें" इस प्रकार बार-बार कहा गया है।

कर्मैव जीवनं तस्माद्, विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम् ॥ ६ ॥

इसलिए कर्म का ही नाम जीवन है। उत्तरोत्तर लोकों या अवस्थाओं में उसके प्रकाशमान विकास को ही हमें अपना ध्येय समझना चाहिए।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥ ७ ॥

वास्तव में हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नतिशील और शाश्वत (= सदा रहने वाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट है।

(रश्मिमाला २)

(ग)

संयतस्व जीवनाय

जीवन के लिये बराबर यत्न करो

"उदायुषा स्वायुषोदस्थाम् ॥" [यजु० ४।२८]

अर्थात्, हम दीर्घ और शुभ जीवन के लिए सदा उद्योगशील रहें।

---

१. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" (यजु० ४०।२)।
२. तु० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६)।

प्राप्य मानवीयजन्म पुण्यकर्मसंचयेन ।

दीनदुःखिरक्षणेन संयतस्व जीवनाय ॥ १ ॥

मनुष्य जन्म को पाकर, पवित्र कर्मों का संचय और दीन-दुखियों की रक्षा सेवा करते हुए जीने का यत्न करो ।

सत्पथानुवर्तनेन भव्यभावभावनेन ।

लोकशंप्रसारणेन संयतस्व जीवनाय ॥ २ ॥

सदाचार के मार्ग पर चलते हुए, सुन्दर-समुन्नत विचारों को रखते हुए और लोक-कल्याण का प्रसार करते हुए जीने का यत्न करो ।

दैन्यभावभञ्जनेन धैर्यधर्मधारणेन ।

वीरतासमाश्रयेण संयतस्व जीवनाय ॥ ३ ॥

दीनता के भाव का भञ्जन करते हुए, धैर्य रूपी धर्म को धारण करते हुए, वीरता-पूर्वक जीने का यत्न करो ।

जीवनं त्विदं मृषेति पामरा जना वदन्ति ।

नैव तत्तथा, ततोऽत्र संयतस्व जीवनाय ॥ ४ ॥

यह जीवन मिथ्या है, ऐसा मूर्ख-पामर लोग कहते हैं । पर जीवन मिथ्या नहीं है । इसलिए इस संसार में जीने का यत्न करो । (रश्मिमाला १)



(घ)

दुःख-मीमांसा

दुःख के स्वरूप पर विचार

हमारे देश की विचारधारा में इधर चिरकाल से दुःख-विषयक विचारों और तन्मूलक विभीषिका ने एक ऐसा वातावरण बना रखा है जो वैयक्तिक तथा जातीय दोनों दृष्टियों से हमारे लिए प्रायेण घातक सिद्ध हुआ है । 'संसार दुःखमय है, अतएव असार और हेय है', 'जीवन दुःख रूप है, अतएव बंध (= कारागार) है, उससे किसी प्रकार छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारे जीवन का परम ध्येय है',[1]

1. द्र० "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्यसूत्र १।१)।

'दुःख सबको ही प्रतिकूल और बाधा के रूप में प्रतीत होता है',[1] 'विवेकी मनुष्य को सब कुछ दुःखरूप में ही देखना चाहिए'[2]—इस प्रकार के विषाक्त अयथार्थ विचारों ने जहाँ एक ओर हमारे जीवन को नीरस, मन्द, उत्साह-हीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनाने में बड़ा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर हमारे करोड़ों भाइयों में जीवन-संघर्ष से मुँह छिपाकर, प्रायः अपरिपक्व दशा में ही, संन्यास की मिथ्या-प्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहित किया है।

दुःख के विषय में उपर्युक्त विचारों से यदि कोई आगे बढ़े हैं तो उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि कर्मयोगी को सुख-दुःख को समान समझकर ही जीवन के युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए।[3]

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में दुःख के स्वरूप के विषय में हम एक नितरां नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं।[4] हमारे परिज्ञान में ये विचार भारतीय वाङ्मय में कहीं देखने में नहीं आये हैं। दुःखों से उद्विग्न मानव को उनसे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है।

नीचे के पद्यों में दुःख के विषय में युक्ति और उपपत्ति के साथ जो सिद्धांत हमने उपस्थित किये हैं वे संक्षेप में मुख्यतः इस प्रकार हैं—

(१) दुःख की प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नहीं होती।

(२) सृष्टि की योजना में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती।

(३) दुःख से लगनेवाले भय के मूल में हमारा अज्ञान ही कारण होता है। महान् पुरुष तो दुःख और कष्टों का स्वागत ही करते हैं।

(४) दुःखों को कार्यसिद्धि की आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।

(५) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। तप से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(६) मनुष्य की समुन्नति में दुःख केवल सीढ़ियों के समान होते हैं।

यहाँ इस लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। नीचे हम पद्यों का केवल स्वारस्य देते हैं—

उद्वेगजनकं दुःखं सर्वेषामेव प्राणिनाम् ।
सेयमापाततो बुद्धिस् तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते ॥ १ ॥

इस संसार में दुःख से सब कोई घबड़ाते हैं; दुःख को उद्वेग जनक समझते हैं। दुःख के विषय में यह जो आपाततः विचार है उसका यहाँ हम तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दुःखं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम् ।
न चैवावश्यकं, दुःखं दुःखमित्येव मन्यताम् ॥ २ ॥

दुःख के विषय में विचार करने पर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते हैं, न निष्प्रयोजन। दुःख को दुःख के रूप में ही अनुभव किया जाय, यह भी आवश्यक नहीं है।

दुःख आकस्मिक नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दुःखमहेतुकम् ? ॥ ३ ॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा सारे जगत् का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में किसी के ऊपर आनेवाला दुःख अहेतुक है, अर्थात् उसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है!

दुःख निष्प्रयोजन भी नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

गर्भावस्थां समारभ्य या यावस्थानुभूयते ।
प्राणिना, वर्द्धितायैव स्पष्टं तस्याः प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

जब से प्राणी गर्भावस्था में आता है, उसे बराबर नई नई दशाओं का अनुभव करना पड़ता है। शास्त्रों में उनका प्रायः भयानक दुःखमय अवस्थाओं के रूप में वर्णन मिलता है। उन दशाओं को हम दुःखमय मानें या न मानें, इतना तो स्पष्ट है कि उनका प्रभाव प्राणी के लिए हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था के समान प्रत्येक दुःखावस्था मनुष्य के हित के लिए ही होती है। गर्भावस्था के अनुभव के पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गांधी जैसे अवतारी पुरुष बनते हैं।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीनां समुद्भवे ।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजनाः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार स्थावर जगत् में भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति में बोने के पश्चात् बीज की जो सड़ने-गलने आदि की अनेक अवस्थाएँ होती हैं वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोए जाने के पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है। तब कहीं वह अंकुर के रूप में उगता है और अंत में आम, अनार, अंगूर जैसे उपयोगी और सुंदर वृक्षों के रूप में आता है। इस प्रकार आपाततः दुःख की अवस्थाओं को भी जानना चाहिए। दुःखावस्था से हमारा अंत में हित ही होगा, यही समझना चाहिए।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नैवात्र संशयः ॥ ६ ॥

इसलिए संसार में जिसको दुःख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनतां तथा।
दुःखस्यावेद्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥ ७ ॥

इस प्रकार दुःख की सहेतुकता और सप्रयोजनता को समझकर, अर्थात् यह मन में बैठाकर कि ईश्वर की सृष्टि में जो कोई दुःख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दुःखों से कभी नहीं घबराता।

अन्धकारगतः कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुरः।
भवेत्तथैव दुःखेभ्यो मन्दानां जायते भयम् ॥ ८ ॥

जैसे अँधेरे में खड़ा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थिति को नहीं समझता और 'न जाने कहाँ से क्या आपत्ति आ जाय' यह सोचकर भय से व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग दुःख के कारण और प्रयोजन को न समझते हुए उनसे डरते रहते हैं।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
दुःखानां स्वागतं कुर्वंस् तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥ ९ ॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है, दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता।

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिनः।
कष्टानां महतामङ्गीकारो दृष्टः फलार्थिनः ॥ १० ॥

जैसे अपने अपने अभीष्ट लक्ष्य (क्रम से विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और संपत्ति) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नता से बड़े बड़े कष्टों को सहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दुःखों और कष्टों को सहर्ष स्वीकार करता है।

विधातुः सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते ।
यत्कार्यसिद्धितः पूर्वं कष्टस्वीकरणं मतम् ॥ ११ ॥

समस्त संसार की सृष्टि करनेवाले प्रजापति का अभिप्राय भी यही दीखता है कि किसी भी कार्य की सिद्धि से पहले कष्ट या दुःख को उठाना ही चाहिए। दूसरे शब्दों में, भगवान् की रची हुई इस सृष्टि में सब के लिए यह स्वाभाविक है कि अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कष्ट या दुःख को उठाया जाय।

अत एव सिसृक्षुः सन् लोकानेतान् प्रजापतिः ।
'तपोऽतप्यत', नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु[1] ॥ १२ ॥

इसीलिये शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों में जहाँ कहीं 'प्रजापति ने इन लोकों की सृष्टि करने की इच्छा की', इस बात का प्रसंग आया है वहाँ 'प्रजापति ने तप किया' ऐसा कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि औरों की तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्मा को भी सृष्टि की रचना से पहले तप करना पड़ता है।

स्वेच्छा से स्वीकार किए गए दुःख या कष्ट को ही तप कहते हैं, यह नीचे कहा गया है—

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते ।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धान्तस्य विधीयते ॥ १३ ॥

पुराणों में भगवान् नीलकंठ शिव की विष-पान की कथा प्रसिद्ध है। वास्तव में उस कथा से उक्त सिद्धांत की ही व्याख्या की गई है। संसार में कौन स्वेच्छया विषपान करने को तैयार होगा? फिर भी लोक-कल्याण की इच्छा से शिव जी ने प्रसन्नतापूर्वक भयंकर विष का पान किया। इसलिए अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रसन्नतापूर्वक कष्ट को स्वीकार करना चाहिए।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मनः ।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मनः ॥ १४ ॥
जीवनेषु तथान्येषां लोकोत्तरयशस्विनाम् ।
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं मतम् ॥ १५ ॥

उक्त कारण से ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गांधी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषों के

---

१. तु० "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान् स्यां प्रजायेयेति ।
सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत ।......" (शतपथब्राह्मण ६।१।१।८)।

जीवन में देखा जाता है कि उन्होंने महान् आदर्शों के पालन के लिए स्वेच्छा से सुखों को छोड़कर कष्टों को स्वीकार किया।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदुःखयोः ।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमवधार्यताम् ॥ १६ ॥

इसलिए सुख और दुःख की भावना को आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें से किसी का अपना कोई निश्चित या ऐकांतिक रूप नहीं है।

दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते ।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते ॥ १७ ॥

दुःख दुःखरूप से तभी तक प्रतीत होता है जब तक कि उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है।

दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः ॥ १८ ॥

यदि बुद्धिमान मनुष्य आए हुए दुःख को स्वेच्छा पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है तो वही दुःख उसके लिए निःसन्देह तप का रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सहसा आए हुए दुःख को अपनी उन्नति की प्राप्ति में सहायक तप मानकर प्रसन्नता से सहे। इस प्रकार वह दुःख उसके लिए कल्याण का ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः ।
आचरन्त्यात्मनः शुद्ध्यै श्रद्धया ये मनीषिणः । १६ ॥

यह कौन नहीं जानता कि शास्त्रों में अनेकानेक कृच्छ्र-तिकृच्छ्र व्रत आदि तपों का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान हैं वे आत्म शुद्धि के लिए उन तपों का श्रद्धा से विधि-पूर्वक पालन करते हैं।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ २० ॥

तप की महिमा महान् है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष संसार में तप द्वारा ही उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदुःखं यत् प्राप्तं भवति जीवने ।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥ २१ ॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि जीवन में जो कोई अनिवार्य दुःख प्राप्त हो उसे वह अपनी अभीष्ट सिद्धि का साधक तप ही समझे और माने ।

हिरण्यस्य यथा शुद्धिरग्नितापेन जायते ।
तथैव दुःखतप्तानां जायते कल्मषक्षयः ॥ २२ ॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण की शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार दुःख रूपी तप से तपे हुओं के कल्मष या पाप का नाश हो जाता है ।

रम्यं प्रासादमारोहन्नत्युच्चशिखरस्थितम् ।
कष्टानि सहते धीरः प्रसन्नो लक्ष्यसिद्धये ॥ २३ ॥

किसी पर्वत के अति ऊँचे शिखर पर बने हुए रमणीय प्रासाद तक पहुँचने के निमित्त ऊपर चढ़नेवाला धीर मनुष्य अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्वक कष्टों को सहता है ।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः ।
एवं वेदोक्तमार्गेण दुःखादुद्विजते न सः[1] ॥ २४ ॥

इसी प्रकार 'तुम उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त करो'[2] इस वैदिक उपदेश के अनुसार जो मनुष्य अपनी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समुन्नति के लिए उत्सुक है वह दुःख से कभी नहीं घबराता ।

देवाधिदेवतत्त्वेन करुणाप्लुतचेतसा ।
नूनं सृष्टं जगत्कृत्स्नं भूतानामुद्दिधीर्षया[3] ॥ २५ ॥

इसमें संदेह नहीं कि उस परमतत्त्व परमात्मा ने, जो देवताओं का भी अधिष्ठातृ-देवता है, करुणा-वश होकर प्राणियों के उद्धार की इच्छा से ही समस्त जगत् की सृष्टि की है ।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते ।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः ॥ २६ ॥

---

१. तु० "आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥" (वाल्मीकिरामायण ३।९।३१) ।

२. तु० "भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेयब्राह्मण १।१३)
(अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो) ।

३. तु० "भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (साम० उ० ५।२।१४)
(अर्थात्, भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं) ।

सृष्टि के विषय में उपर्युक्त वस्तुस्थिति के होने से, लोक में जिसको दुःखावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए ही होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मयः ! ।
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दुःखशब्दो न दृश्यते ॥ २७ ॥

दुःख के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है कदाचित् उसी कारण से, यह आश्चर्य की बात है कि, वैदिक संहिताओं के मंत्रों में कहीं भी 'दुःख' शब्द नहीं पाया जाता।

(रश्मिमाला १)

(ङ)

जीवने नाट्यसादृश्यम्

जीवन-नाट्य

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११)।

अर्थात्, वह परमात्मा सबका साक्षी, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व और सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीनों गुणों से रहित है।

धनव्ययेन दृश्यानि नाट्यादीनि समुत्सुकैः ।
पश्यन्ति लौकिकास्तद्वद् वर्तेथा जीवनं प्रति ॥१॥

सांसारिक लोग धन का व्यय करके बड़ी उत्सुकता के साथ नाट्य आदि के दृश्यों (तमाशों) को देखते हैं। जीवन के विषय में भी तुम ऐसा ही बर्ताव रखो।

अभिप्राय यह है कि जीवन मानो एक नाटक है। उसकी सुख दुःखात्मक घटनाओं में लिप्त न होते हुए ही मनुष्य को अपने अनुभव की वृद्धि और विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते रहना चाहिए।

(रश्मिमाला ५०)

उत्तरोत्तरमुन्नतिः

उत्तरोत्तर उन्नति

"प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः" (ऋग्० १०।५९।१) ।

अर्थात्, भगवन्! हमें उत्तरोत्तर समुन्नति-शील नवीनतर जीवन में अग्रसर कीजिए।

जन्मजन्मान्तरस्यैतद् विज्ञा आहुः प्रयोजनम् ।
अनुभूतिविशेषैर्यदुत्तरोत्तरमुन्नतिः ॥१॥

विज्ञों का कहना है कि विभिन्न अनुभवों द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति अथवा विकास ही जन्म जन्मान्तर का प्रयोजन है।

तस्माद् यानुभवस्याप्तिर्मानवस्येह जायते ।
दुःखरूपापि सा नूनमन्तव्या सप्रयोजना ॥२॥

इसलिए मनुष्य को इस जीवन में दुःख रूप में भी जो अनुभव प्राप्त होता है उसको सप्रयोजन ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने जीवन की दुःखात्मक घटनाओं से न घबड़ाकर उनको, उनसे प्राप्त शिक्षा या अनुभव द्वारा, अपने उत्तरोत्तर विकास का साधन ही बनाना चाहिए। क्योंकि—

यथार्ज्यते धनं लोके दुःखैः कष्टैश्च भूरिशः ।
तथा तैरर्ज्यते ज्ञानं जनैरनुभवात्मकम् ॥३॥

जैसे संसार में अनेक प्रकार के दुःखों और कष्टों से धन का संचय किया जाता है, वैसे ही अनुभवात्मक ज्ञान भी अनेक दुःखों और कष्टों से संचित किया जाता है।

(रश्मिमाला ५१)



परिशिष्ट २

तत्त्व-मीमांसा

मूलतत्त्व का विचार

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्० १।१६४।४६)

अर्थात्, एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।

प्रायः प्रत्येक धर्म और संप्रदाय के लोग इस दृश्य जगत् के मूल में रहने वाले एक परम तत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसके लिए वे अपनी-अपनी परम्परा या दार्शनिक दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम भी देते हैं। इस नाम-भेद के ही कारण वे प्रायः यह सोच नहीं सकते कि नाम-भेद और दृष्टि-भेद से वह मूलतत्त्व वास्तव में असंपृक्त है, और इसीलिए उनसे स्वीकृत मूल तत्त्व, नाम भेद और दृष्टि-भेद के होने पर भी, वास्तव में एक ही है।

मूलतत्त्व स्वयं-सिद्ध है। उसको किसी ने बनाया नहीं है। उसके सम्बन्ध में नाम भेद और दृष्टि-भेद का यही अर्थ हो सकता है कि हम सब उसके स्वरूप को समझना चाहते हैं। ऐसी दशा में नाम-भेद और दृष्टि-भेद को लेकर झगड़ने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। पर धर्मों और संप्रदायों के इतिहास इस झगड़े से भरे पड़े हैं। इसीलिए मूलतत्त्व-मीमांसा की विशेष आवश्यकता है। इसी मीमांसा को लेकर नीचे के पद्य लिखे गये हैं—

यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो भवः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम् ॥१॥

समस्त सत्पदार्थ जिस मूलतत्त्व से उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनका लय होता है और जिसके आश्रय से वे वर्तमान रहते हैं, वह स्वयं नित्य और अव्यय अर्थात् क्षय रहित है।

भाषासीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथंचन।
स्वयम्भु, वस्तुतो नाम्ना यद्विदं तद्धि वर्तते ॥ २ ॥

वह मूलतत्त्व भाषा की सीमा को अतिक्रमण करके रहता है, अर्थात् भाषा द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन कठिन है। किसी प्रकार केवल ज्ञान की गति उस तक हो सकती है। वह स्वयंभू है, अर्थात् उसको किसी दूसरे ने उत्पन्न नहीं किया है। वास्तव में उसका कोई अपना नाम नहीं है।

तन्नामविषये मन्दास्तत्तद्रूढिवशान्मुधा।
विवदन्ते, तदाश्चर्यमुपहासकरं महत् ॥ ३ ॥

उसी मूलतत्त्व के नाम के विषय में मन्द-बुद्धि लोग, विभिन्न शाब्दिक रूढ़ियों के कारण, व्यर्थ में विवाद करते हैं। यह बड़े आश्चर्य और उपहास की बात है।

नियतो विषयो वाचोऽनियतो मनसस्ततः।
ह्रसीयसी हि वागुक्ता मनसोऽपेक्षया श्रुतौ[1] ॥ ४ ॥

वाणी का विषय परिमित है और मन का अपरिमित। इसीलिए श्रुति (वेद) में मन की अपेक्षा वाणी को छोटा कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि हमारे मन के भावों को वाणी प्रायः पूर्णतया प्रकट नहीं कर पाती। इससे स्पष्ट है कि वाणी के क्षेत्र की अपेक्षा मन का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है।

तत्त्वं स्वभावतः सिद्धं गुणग्रामनिकेतनम्।
गुणमेकं समाश्रित्य पुनर्नाम प्रवर्तते ॥ ५ ॥

वह मूलतत्त्व स्वभाव से ही अनेकानेक गुणों का स्थान है। परन्तु (अन्वर्थ) नाम किसी एक गुण को लेकर ही प्रवृत्त होता है।

अभिप्राय यह है कि जितने भी अन्वर्थ नाम होते हैं वे सब किसी-न किसी एक ही गुण को लेकर रखे जाते हैं। मूलतत्त्व में तो अनेकानेक गुण रहते हैं। इसलिए कोई अन्वर्थ नाम मूलतत्त्व का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता। इसी बात को नीचे स्पष्ट किया गया है।

न विद्यते ततो नाम त्रिषु लोकेषु तादृशम्।
तत्त्वोपवर्णने शक्तं साकल्येन भवेत्तु यत् ॥ ६ ॥
अन्वर्थवाचकं सर्वं नाम तत्त्वस्य विद्यते।
नैव रूढं, ततस्तेन विशेषगुण उच्यते ॥ ७ ॥

---

१. तु०—"वाचै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्।" (शतपथ-ब्राह्मण १।४।४।७) अर्थात्, मन की अपेक्षा वाणी छोटी है; क्योंकि मन का क्षेत्र अपरिमिततर जैसा है और वाणी का परिमिततर जैसा।

परिशिष्ट २

तत्त्व-मीमांसा

मूलतत्त्व का विचार

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्० १।१६४।४६)

अर्थात्, एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।

प्रायः प्रत्येक धर्म और संप्रदाय के लोग इस दृश्य जगत् के मूल में रहने वाले एक परम तत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसके लिए वे अपनी-अपनी परम्परा या दार्शनिक दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम भी देते हैं। इस नाम भेद के ही कारण वे प्रायः यह सोच नहीं सकते कि नाम-भेद और दृष्टि-भेद से वह मूलतत्त्व वास्तव में असंपृक्त है, और इसीलिए उनसे स्वीकृत मूल तत्त्व, नाम भेद और दृष्टि-भेद के होने पर भी, वास्तव में एक ही है।

मूल-तत्त्व स्वयं-सिद्ध है। उसको किसी ने बनाया नहीं है। उसके सम्बन्ध में नाम भेद और दृष्टि-भेद का यही अर्थ हो सकता है कि हम सब उसके स्वरूप को समझना चाहते हैं। ऐसी दशा में नाम-भेद और दृष्टि-भेद को लेकर झगड़ने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। पर धर्मों और संप्रदायों के इतिहास इस झगड़े से भरे पड़े हैं। इसीलिए मूलतत्त्व-मीमांसा की विशेष आवश्यकता है। इसी मीमांसा को लेकर नीचे के पद्य लिखे गये हैं—

यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम् ॥१॥

समस्त सत्पदार्थ जिस मूलतत्त्व से उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनका लय होता है और जिसके आश्रय से वे वर्तमान रहते हैं, वह स्वयं नित्य और अव्यय अर्थात् क्षय-रहित है।

भाषासीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथंचन।
स्वयम्भु, वस्तुतो नाम्ना रहितं तद्धि वर्तते ॥ २ ॥

एवं सत्यपि दृष्टीनां विभेदे दर्शनादिषु ।
तत्त्वं स्वरूपतः स्थायि कूटस्थं चैव वर्त्तते ॥ १३ ॥

इसी प्रकार विभिन्न दर्शनों आदि में मूल-तत्त्व के विषय में विभिन्न दृष्टियों के पाये जाने पर भी, वह स्वरूप में स्थायी और कूटस्थ ही रहता है ।

अभिप्राय यही है कि मूलतत्त्व के विषय में अनेक दृष्टियाँ भले ही हों, वह अपने रूप में सदा अविचल और अस्थायी भाव से ही रहता है । उन दृष्टियों का उसके अपने रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

एकस्यैव प्रमेयस्य परिभाषान्तरं यथा ।
क्रियते शास्त्रभेदेन तथा तत्त्वेऽपिह श्यताम् ॥ १४ ॥
सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धर्म्म' प्रजापतिः ।
शक्तिर्माता शिवो विष्णु राम ओंकार एव च ॥ १५ ॥
प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः ।
तदेव तत्त्वं गीतायामहंशब्देन कथ्यते ॥ १६ ॥

एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न पारिभाषिक शब्द नियत कर लिये जाते हैं । मूलतत्त्व के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

सत्य, ब्रह्म, परमधाम, कर्म, धम्म (धर्म), प्रजापति, शक्ति,' माता, शिव, विष्णु, राम, ओम्, प्रेम इत्यादि सारे शब्द मूलतत्त्व के ही वाचक हैं; इसमें कोई संशय नहीं है । उसी मूलतत्त्व के लिए भगवद्गीता में 'अहम्' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(रश्मिमाला ६०)

इसलिए तीनों लोकों में कोई ऐसा नाम नहीं है जो पूर्णतया मूलतत्त्व के स्वरूप के वर्णन में समर्थ हो। क्योंकि उस मूलतत्त्व के जो भी नाम संसार में प्रसिद्ध हैं वे सब अन्वर्थ-वाचक ही हैं; अर्थात् किसी अर्थ को लेकर ही वे प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिए उन नामों से मूलतत्त्व के किसी न किसी विशेष गुण का ही अभिप्राय होता है। उनमें से कोई भी पूर्णरूप से मूलतत्त्व के सब गुणों को नहीं बतला सकता।

उसका कोई रूढ़ (= जिसमें अर्थ की अपेक्षा न हो) नाम तो है ही नहीं।

रुचिभेदाद्धियो भेदादथवा संप्रदायतः।
तत्त्वस्य विषये दृष्टेर्भेदः समुपजायते ॥ ८ ॥
दर्शनानि विभिन्नानि संप्रदायास्ततोऽपरे।
समुत्पन्नानि लोकेऽस्मिन् दृश्यन्ते यत्र तत्र वै ॥ ९ ॥

मूलतत्त्व के विषय में जो अनेक दृष्टियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण रुचि भेद, बुद्धिभेद, अथवा संप्रदाय भेद ही है।

संसार में जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विभिन्न दर्शनों और संप्रदायों की उत्पत्ति इन्हीं कारणों से हुई है।

परिधानीयवस्त्राणां भोज्यानां चैव निश्चितम्।
प्रकारेषु महान् भेदो देशभेदेन दृश्यते ॥ १० ॥
तत्तत्कारणसत्त्वेऽपि तत्र भेदे, न मौलिकः।
अभिप्रायो मनुष्याणां भेदमापद्यते क्वचित् ॥ ११ ॥

विभिन्न देशों के पहनने के वस्त्रों और भोज्य पदार्थों के प्रकारों में महान भेद पाया जाता है।

उक्त भेदों में विभिन्न देशों के जल वायु आदि का भेद ही कारण होता है। तो भी, पहनने के वस्त्रों और भोज्य पदार्थों के संबंध में मनुष्यों के मौलिक अभिप्राय में कोई भेद नहीं होता। अर्थात् संसार में सर्वत्र वस्त्र शीत आदि से बचाव के लिए ही पहने जाते हैं और भोजन शरीर-पुष्टि के लिए ही किया जाता है।

रुचकादिप्रकारेण भिन्नाकारानुपेयुषः।
सुवर्णस्य सुवर्णत्वं हीयते न कदाचन ॥ १२ ॥

सुवर्ण के गले आदि के आभूषणों में सोना भिन्न भिन्न आकारों को धारण कर लेता है। तो भी, उनमें सुवर्णका सुवर्णत्व ज्यों का त्यों रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

परिशिष्ट ३

आध्यात्मिक साधना या प्रगति में ओंकारोपासना का बड़ा महत्त्व है। इसी लिए साधकों के हित की दृष्टि से निम्नस्थ उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है:—

ओंकार-माहात्म्यम्

ओंकार की महिमा

वेदादि-शास्त्रों में ओंकार के अद्भुत माहात्म्य का वर्णन किया गया है। उस माहात्म्य को अतिशयोक्ति न समझना चाहिये। उसका आधार, निश्चय ही, ऋषि-मुनियों का अपना अनुभव था। उस माहात्म्य को पढ़कर यही मानना पड़ेगा कि एक सच्चे श्रद्धालु के लिए ओंकार ऐसा चिन्तामणि है जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है—"एतद् ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" (कठोपनिषद् १।२।१६) अर्थात्, ओंकार को जानकर कोई भी जिस पदार्थ को चाहता है उसको पा सकता है।

छान्दोग्य-उपनिषद्, माण्डूक्य-उपनिषद्, कठ-उपनिषद्, श्वेताश्वतर-उपनिषद्, भगवद्गीता, मनुस्मृति आदि में अनेकानेक स्थलों में ओंकार का वर्णन है। उससे स्पष्ट है कि ओंकार ब्रह्म-प्राप्ति का एक अद्वितीय साधन है।

पातञ्जल-योगसूत्रों में कहा है कि परमेश्वर का मुख्य वाचक शब्द ओंकार ही है और ओंकार के जप और अर्थ के चिन्तन से अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाला सरलता से एकाग्रता तथा अन्तर्-मुखता को प्राप्त कर सकता है और उसके मार्ग में आने वाले सब प्रकार के विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

इसी ओंकार का एक आकर्षक, साथ ही वास्तविक वर्णन, माहात्म्य के रूप में, हम नीचे देते हैं। निश्चय ही, जिज्ञासु लोगों को यह अत्यन्त प्रिय लगेगा। साथ ही हम आशा करते हैं कि पाठक इसको, कविता के रूप में नहीं, किन्तु आध्यात्मिक भावना के रूप में ही पढ़ेंगे और प्रत्येक विचार-धारा को अपने मन में सजीव देखने का यत्न करेंगे।

(ओंकार का दोला या झूले के संगीत के रूप में वर्णन)

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियामकम् ।
यत्, तेन निर्मितामेतां तेनैवान्दोलितां तथा ॥ १ ॥
श्वासप्रश्वासयोर्दोलामारूढो मोदनिर्भरम् ।
गायाम्योंकारसंगीतं मधुरं मधुराक्षरम् ॥ २ ॥

अर्थात्, प्रेम और कारुण्य के स्थान तथा सारे विश्व के नियन्ता भगवान् ने श्वास और प्रश्वास की दो डोरियों वाली एक दोला (झूला) मेरे लिये बनायी है और स्वयं ही उस दोला को आन्दोलित कर रहे हैं । उन्हीं के द्वारा मैं उस दोला में बैठा हुआ आनन्द-विभोर होकर मीठे स्वर में मधुराक्षर ओंकार रूपी संगीत को गा रहा हूँ । ठीक उसी तरह, जैसे कोई बालक अपने पिता द्वारा झूले में बिठाया और झुलाया जाकर आनन्द में मग्न होकर गीत गाता है ।

(२)

(माता को बुलाने के लिए बच्चे के आह्वान के रूप में वर्णन)

यासौ सर्वजगन्माता सर्वदेवनमस्कृता ।
ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता सर्वशास्त्रोपवर्णिता ॥ ३ ॥
नानासंतापसंत्रस्तस् तस्या आह्वानमुत्तमम् ।
ओंकारमाश्रये नित्यं भक्तिप्रवणमानसः ॥ ४ ॥

अर्थात्, समस्त देवताओं से नमस्कृत, ऋषियों और मुनियों से गायी गयी, तथा सब शास्त्रों से वर्णन की हुई जो सारे जगत् की माता है, ओंकार उसके आह्वान का, अपनी ओर आकृष्ट करने का, उत्कृष्ट साधन है । अनेकानेक सन्तापों से त्रस्त होकर मैं भक्ति प्रवण होता हुआ सर्वदा उसी ओंकार का आश्रय लेता हूँ ।

अभिप्राय यह है कि डरे हुए बच्चे की तरह मैं भी नाना संतापों से डरा हुआ ओंकार द्वारा ही विश्व की माता को बुलाना चाहता हूँ । उनके बुलाने के लिए यही सर्वोत्तम आह्वान है ।

(३)

(भगवत्पद की प्राप्ति के लिए सोपान के रूप में वर्णन)

योगिनामपि दुर्गम्यं भक्तानामपि दुर्लभम् ।
ज्ञानिनामपि दुश्चिन्त्य जगतः प्रभवाव्ययम् ॥ ५ ॥

कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं विष्णोर्यत परमं पदम् ।
ओमित्युद्गीथिनः प्राहुस्तस्य सोपानमद्भुतम् ।। ६ ।।

अर्थात्, ओम् का गान करने वाले आचार्यों का कहना है कि ओंकार ही उस कूटस्थ शाश्वत और दिव्य भगवत्पद की प्राप्ति के लिए एक अद्भुत सीढ़ी है, जो योगियों के लिए भी दुर्गम्य है, भक्तों के लिए भी दुर्लभ है, ज्ञानियों के लिए भी दुश्चिन्त्य है और जहाँ से जगत् की उत्पत्ति होती है और जिसमें प्रलय होता है।

(४)

(आत्मरक्षार्थ कवच के रूप में वर्णन)

आन्तरागामरातीनां विजयव्रतधारिणाम् ।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीनां धर्मचारिणाम् ।। ७ ।।
ओंकारं परमं प्राहुराश्रयं तद्विदो बुधाः ।
तमेनं सुदृढं मन्ये "ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" ।। ८ ।।

अर्थात्, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि आभ्यन्तर शत्रुओं को विजय करने का व्रत लेने वाले, और भव-बन्ध अर्थात् सांसारिक जीवन की त्रुटियों और अपूर्णताओं की निवृत्ति के लिए धर्माचरण में रत मुनियों का ओंकार ही एकमात्र उत्कृष्ट सहारा होता है, ओंकार के तत्त्व को जानने वालों का ऐसा मत है। उसी ओंकार को मैं ब्रह्म-रूप में अपना सुदृढ़ आध्यात्मिक कवच समझता हूँ।

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" यह अथर्ववेद (१।१९।४) का मन्त्र है। उसी की ओंकार-परक व्याख्या यहाँ की गयी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर-भक्त के लिए ओंकार ही एक सुदृढ़ कवच का काम करता है।

(५-६)

(सुगन्धित पुष्प, परम ज्योतिः, अमृत, परमौषध तथा ब्रह्मास्त्र के रूप में वर्णन)

ज्ञानविज्ञानवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम् ।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरमृतं भोज्यमात्मनः ।। ९ ।।
नानासन्तापतप्तानां यच्चाप्यौषधमुत्तमम् ।
पापौघं भस्मसात् कर्तुं ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मवादिनाम् ।। १० ।।

अर्थात्, ओंकार ज्ञान विज्ञान-रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात्,

जैसे किसी फूलने वाले पौदे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय - सारांश पुष्प-रूप में विकसित होता है, इसी तरह समस्त ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम निचोड़ या परम ध्येय या पर्यवसान ओंकार है।

ओंकार समस्त प्रकाशमय पदार्थों का भी प्रकाश है।

ओंकार ही वास्तव में आत्मा का अमृतमय भोज्य है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यमात्र में अपने को पूर्ण की ओर ले जाने की जो भूख है उसकी सदा के लिए तृप्ति ओम् से ही हो सकती है।

नानाविध सन्तापों से संतप्त प्राणियों के लिए ओंकार ही सर्वोत्तम अचूक औषध है।

मनुष्य के अन्दर जो पापों की राशि घर किये हुए है उसको आमूल भस्मसात् करने के लिए ओंकार को ही ब्रह्मज्ञानी लोग अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र समझते हैं।

(१०)

(सर्व-देवात्मक, सर्वत्र व्यापक मूल-तत्त्व के रूप में वर्णन)

सर्वदेवात्मकं शान्तं तत्त्वमेकरसायनम्।
अथवा बहुनोक्तेन कोऽर्थं, एवं विचिन्त्यताम् ॥ ११ ॥
त्रिलोक्यामपि यत्किञ्चित् तदादाय समन्ततः।
तिष्ठन्तं प्रणवं ध्यायन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १२ ॥

अर्थात्, समस्त देव जिसके अंग हैं ऐसा, सदा एक स्वरूप में रहने वाला (अथवा अद्वितीय रसायन-भूत), शान्त तत्त्व ओंकार ही है।

अथवा अधिक कहने से क्या लाभ है; यही समझना चाहिए कि तीनों लोकों में जो कुछ भी विद्यमान है उस सबको अपने में लेकर जो स्थित है, उसी ओंकार का ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सकता है।

(उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य के माहात्म्य का वर्णन)

एतदोंकारमाहात्म्यं प्रातः प्रातः पठन्नरः।
सावधानेन मनसा शान्त एकान्तसंस्थितः ॥ १३ ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रयतन् ब्रह्मणोऽर्चने।
प्रणवस्य जपेनार्थभावनेन च नित्यशः ॥ १४ ॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं स्थानं प्राप्य, परं पदम्।
अहार्य्यममृतं दिव्यं लब्ध्वा तिष्ठत्यनामयम् ॥ १५ ॥

अर्थात्, उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य का एकान्त में बैठकर प्रत्येक दिन प्रातःकाल शान्तचित्त और सावधान होकर जो मनुष्य पाठ करता है वह गुरु द्वारा बतलाये हुए मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति की ओर चलता हुआ नित्य अर्थविचार के साथ ओंकार के जप से क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ निश्चय ही अन्त में अक्षय, अमृत, अनामय (सब पीड़ाओं से रहित) आनन्दमय परमपद को प्राप्त कर लेता है।

(उपसंहार)

स एष सरलो मार्गः सर्वकण्टकवर्जितः ।
अत एव सदा सद्भिः सम्प्रदायैः समर्हितः ॥ १६ ॥

अर्थात्, ओंकार-उपासना का उपरि-निर्दिष्ट मार्ग सीधा-सादा है। इसमें किसी प्रकार के कण्टकों या विघ्न-बाधाओं या जटिलताओं का डर नहीं है। इसी लिए समस्त सत् सम्प्रदाय इस मार्ग का आदर करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मार्ग की तरह जैन बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी ओंकार के माहात्म्य को मानते हैं।

(रश्मिमाला ११)

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा प्रणीत अथवा संपादित ग्रन्थों का परिचय[1]

(संस्कृत भाषा में)

मूल्य

(१) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, उवटाचार्यकृतभाष्येण सहितम्। ८॥)

(२) प्रबन्धप्रकाशः। (संस्कृतनिबन्धात्मकः) प्रथमो भागः। नवमं संस्करणम् ३)

(३) प्रबन्धप्रकाशः। द्वितीयो भागः, ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचनेन सहितः। ३)

(४) न्यायसिद्धान्तमाला। (द्वौ भागौ)। १॥-)

(५) उपनिदानसूत्रम् (सामवेदीयम्)। ॥)

(६) उपेन्द्रविज्ञानसूत्रम् (वेदान्तः)। १)

(७) आश्वलायनश्रौतसूत्रम् (सिद्धान्तिभाष्यसहितम्) (द्वौ भागौ)

(८) आर्यविद्यासुधाकरः। १०)

(९) भारतीयसंविधानस्य (उत्तरार्धस्य) संस्कृतानुवादः।

(१०) ऐतरेयारण्यक-पर्यालोचनम् २)

(इङ्गलिश भाषा में)

(११) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् English Translation, Critical Notes, Appendices, etc. २०)

(१२) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् (Critical Introduction, Text in Sanskrit Stanzas, Appendices, etc.). In the Press.

---

१. गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, के प्रिंसिपल के पद से प्रकृत लेखक द्वारा संपादित 'सरस्वती भवन ग्रन्थमाला' की पुस्तकों का उल्लेख इस सूची में नहीं है।

(हिन्दी भाषा में)

(१३) भाषाविज्ञान (अथवा तुलनात्मक भाषाशास्त्र), पंचम संस्करण 6)

(१४) भारतीय आर्यधर्म की प्रगतिशीलता (भारतीय संस्कृति के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन) ॥)

(१५) मिना (= प्रेम और प्रतिष्ठा का संघर्ष) ('मिना फान बार्नहेल्म' नामक जर्मन नाटक का अनुवाद)। २।)

(१६) वेदों का वास्तविक स्वरूप अथवा—वेदों के महान् आदर्श ।≈)

(१७) रश्मिमाला (अथवा 'जीवनसंदेश-गीताञ्जलि')। मूल संस्कृत पद्य तथा हिन्दी अनुवाद। उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत २॥)

(१८) भारतीयसंस्कृति का विकास। प्रथम खण्ड, वैदिक धारा ७)

(प्रकाशनार्थ प्रस्तुत ग्रन्थ)

(१) शतपथब्राह्मणपर्यालोचनम्

(२) कौषीतकिब्राह्मणपर्यालोचनम्

(३) सांख्ययोगपारिभाषिकशब्दकोषः

प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्या भवन

बनारस